CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

9.3

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड २१, अंक १

दिसम्बर १९९९ भारतीय सौर मार्गशीर्ष शके १९२१

संस्थापक संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे
प्रधान संपादक : सुभाषचन्द्र भेलके

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिंदी)

- पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की चिंतनपरक त्रैमासिक पत्रिका (नूतनमालिका) (भूतपूर्व तत्त्वज्ञान मन्दिर हिंदी, अमलनेर)

संपादक मण्डल :

बलीराम शुक्ल

राजेन्द्र प्रसाद

चंद्रकांत बांदिवडेकर

रामजी तिवारी

सलहकार संपादक मण्डल :

विजयकुमार भारद्वाज

भुवन चण्डेल

आर्. बालसुब्रमणिअन

छाया राय

अशोक वोहरा

अशोक केळकर

- प्रकाशनार्थ लेखनसामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए :
  प्रधान संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११००७

- सदस्यता शुल्क :

आजीवन	संस्थाओं के लिए	रु. १५००/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ६००/-
वार्षिक	संस्थाओं के लिए	रु. ८०/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ६०/-
एक प्रति का मूल्य		रु. २०/-

- सदस्यता शुल्क मनीऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा ही पत्रिका के पते पर भेजा जाए। (धनादेश से भुगतान में रु.१० अधिक जोड दें)
- आजीवन सदस्यता शुल्क एक या दो समान किश्तों में भेजा जा सकता है ।
- अंक न मिलने की सूचना अंक प्रकाशित होने बाद एक महिने के भीतर मिलने पर, अंक बचे हों तो, पुनः भेजा जाएगा ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संपादकीय

एक सवाल हमेशा उठता है, कि दर्शन में क्या नवीन है? व्हाईटहेड जैसे महानुभाव कह गये हैं कि समूचा पाश्चिमात्य दर्शन प्लेटो के संवादों पर लिखी मात्र पाद-टिप्पणी है । कुछ महानुभाव मानते हैं कि प्राय: सभी विचार पहले ही किसी न किसीने कहीं न कहीं व्यक्त किये हुए हैं । कुछ लोगों का कहना है कि विचार वही पुराने क्यों न हों, विचार की शैली तथा पद्धति अलग होने से विचार-स्थापना में नवीनता स्वीकृत है । अगर दार्शनिक पद्धति के बारे में सोचें तो वे भी अनंत नहीं हो सकती हैं । दार्शनिक चिंतन की पद्धतियाँ भी संख्या में बहुत कम और सुनिश्चित हैं । अगर समस्याओं के बारे में कहा जाए तो वहाँ भी वही हाल है । मूलत: वही मनुष्य उसी जगत् का अंश होकर अपना जीवन व्यतीत करता है । उस की समस्या में क्या नवीनता होगी? अगर समस्याओं पर चिंतन करना है तो उन्हें उन के मूल रूप मे देखना पडेगा । मूल रूप में अंकित मानव-जीवन की समस्याएँ प्राय: युगोंयुगों से वही की वही चली आ रही हैं, ऐसा दिखाई देता है । समस्याओं के जो हल निकाले जाते हैं, वे भी निर्णायक नहीं होते हैं और अपने युग के अनुरूप उन से काम लिया जाता है । अगर समस्याएँ सनातन हैं और उन के कुछ हल हैं तो वे भी एकही या एक जैसे ही होंगे; उन में किस तरह की नवीनता देखी जा सकती है?

तो फिर इसका मतलब यह होगा कि मानव जीवन में कोई परिवर्तन या गति नहीं है? इस बात को स्वीकारना भी संभव-सा नहीं दिखाई देता है । मानव-जीवन, चाहे वह व्यक्तिगत हो या समाजिक, निरंतर नये पहलुओं में, नये आयामों में, नये दायरों में अविष्कृत होता रहता है । अनादि युगों से वही सूरज उसी क्षितिज पर उग रहा है, फिर भी हम हर दिन को नया स्वीकारते हैं, चाहे शाम ढलने पर क्यों न कहें कि आज का दिन ठीक कल के जैसा ही था । शायद आज के दिन की उपलब्धि कल के दिन की उपलब्धि की तुलना में कुछ भी न हो, फिर भी आज का दिन कल के दिन से अलग एवं स्वतंत्र है । क्या इस तरह के अलगाव और स्वतंत्र होने में नवीनता का रहस्य छिपा रहता है ? कोई भी दो चीजें एक होना और एक-जैसी होना इस में हम फर्क मानते हैं । किसी चीज को पुराना कहना और वही पुराना कहना इस में भी हम भेद मानते हैं । यह क्षण बस्स अगलेही क्षण में पुराना हो जाता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है और इस क्षण की बात भी अगले क्षण पुरानी बन जाती है, उस में नवीनता नहीं रहती है। तो क्या नवीनता का मतलब भविष्योन्मुखी वर्तमान है? और अगर ऐसा माना जाए तो 'नित्य-नूतन' इस संकल्पना का अर्थ हम किसी तरह लगा पाएँगे?

नवता और आधुनिकता का चोली-दामन का साथ माना जाता है। आधुनिकता बनाए रखने के लिए नवता को सम्हाल रखना जरूरी होता है। आधुनिकता का आविष्कार शैली के आधार पर विशेष रूप से किया जाता है। आधुनिकता में वर्तमान की संवेदना तीव्र होती है और वर्तमान के साथसाथ रहने की कोशिश भी रहती है। वर्तमान की गतिविधियों में चिंतन के प्रारूप रचते रहने में नवीनता का अहसास होता है। दार्शनिक चिंतन के संदर्भ में वर्तमान की गतिविधियों से मिलजुलकर जब चिंतन रूख लेता हैं तब वह हमें अधिक नजदीक लगता है। लेकिन नवता अभिजात्य सै दूरी पैदा न करे यह भी अपेक्षा रहती है। अभिजात विचार एवं कल्पना जब वर्तमान की गतिविधियों के अनुरूप मानवी जीवन की समस्याओं के हल ढूँढने की कोशिश में जुटे रहते हैं, तब उस में अतीत से नाता बनाए रखते हुए हम भविष्योन्मुखी वर्तमान के बारे में ठोस स्थापनाएँ दे सकते हैं। हम चाहते हैं कि इस विधा को अपना कर दार्शनिक गतिविधियों के रूख रहें तो उन का मानवी जीवन में संमानित स्थान रहेगा। इस चेतना के उन्मेष ही दर्शन में जीवन्तता के आसार दिखा सकते हैं। क्या आजकल की हमारी दार्शनिक गतिविधियों में हम इस तरह की जीवंतता के आसार देख पाते हैं? उत्तर हमारे ही पास है, बशर्ते कि हम उसे ढूँढ लें।

सुभाषचंद्र भेलके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गणितीय ज्ञान की अनुभवनिरपेक्षता

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन (परम्परा) में गणितीय ज्ञान को दो कोटि में रखा गया है—

(१) अनुभव-निरपेक्षता

(२) अनुभव-सापेक्षता

डेकार्ट, काण्ट, ह्यूम, लाइबनित्स, बॅर्कले, बाबर इत्यादी दार्शनिकों एवं गणितज्ञों का मानना है कि गणितीय ज्ञान अनुभव से स्वतन्त्र है तथा गणित में खण्डन एवं मण्डन की प्रक्रिया अनुभव पर आश्रित नहीं है । इन दार्शनिकों के अतिरिक्त तर्कशास्त्रवादी, अन्तःप्रज्ञावादी एवं आकारवादी दार्शनिक भी गणितीय ज्ञान की प्रागनुभविकता को स्वीकार करते हैं ।

लाइबनित्स एक प्रसिद्ध गणितज्ञ एवं बुद्धिवादी दार्शनिक था । उन्होंने सभी प्रकार के ज्ञान को प्रागनुभविक माना है । हमारे अन्दर ऐसे बहुत से प्रत्यय हैं जो जन्म से हैं परन्तु हमें उनकी चेतना नहीं है । विशिष्ट अवसरों पर ये अचेतन प्रत्यय ही चेतन बन जाते हैं । किन्तु यह ज्ञान बाहर से नहीं आया । यह जन्मजात एवं प्रागनुभविक है । उनका मानना है कि गणित एवं तर्कशास्त्र के प्रत्यय इसी प्रकार के हैं । उन्होंने सत्य को दो कोटि में विभाजित किया है—

(१) बुद्धि पर आश्रित (Truth of Reason)

(२) वस्तुस्थिति पर आश्रित (Truth of Contingent)

उनका मानना है कि तर्कशास्त्रीय एवं गणितीय ज्ञान बुद्धि पर आश्रित सत्य उपलब्ध कराते हैं तथा ये सत्य इसलिए अपरिहार्य है कि उनका निषेध व्याघात उत्पन्न करता है । अनिवार्य सत्य न केवल वास्तविक जगत् में अपितु सब सम्भव जगत् में भी सत्य है । अनुभवपरक सत्य वास्तविक जगत् में सत्य है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सब सम्भव जगत् में सत्य ही हो । गणित एवं तर्कशास्त्र से भिन्न जो विज्ञान है वे केवल अनुभव पर आश्रित सत्य ही उपलब्ध करा सकते हैं।[१] लाइबनित्स के मतानुसार "अनिवार्य सत्यों का अन्तिम प्रमाण केवल बुद्धि से ही आता है और अन्य सत्य अनुभव तथा इन्द्रियों के निरीक्षण से निकाले जाते हैं ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हमारा मन इन दोनों को जान सकता है परन्तु वह स्वयं ही पहले का स्रोत है । किसी भी सार्वभौम सत्य के हमें कितने भी विशिष्ट अनुभव प्राप्त हो, परन्तु हम आगमन के द्वारा उसके बारे में निश्चित नहीं हो सकते तब तक कि हम विवेक द्वारा उसकी अनिवार्यता को न जानते हैं'' ।[२] गणित के सत्य सार्वभौम एवं अनिवार्य है । लेकिन ये आन्तरिक सत्य चेतन रूप नहीं रखते और इसलिए उनको पुस्तक की तरह से नहीं पढा जा सकता, अपितु इन्द्रियों द्वारा उनको जानने का अवसर उपस्थित करने पर ही उन्हें जाना जा सकता है । इस अर्थ में गणितीय और ज्यामितीय प्रत्यय मन में सुप्त रूप में होते हैं ।

लाइबनित्स के मतानुसार सम्प्रत्ययात्मक विश्लेषण की विधि का प्रयोग गणितीय तात्त्विक चिन्तन में सम्भव है, जहाँ चिन्तन का विषय वास्तविकतायें नहीं है लेकिन उनके स्वभाव से सम्बन्धित परिकल्पनाएँ होती हैं । ये परिकल्पनाएँ अनिवार्य होती हैं क्योंकि इनमें यह अभिगृहीत होता है कि यदि वस्तुएँ होगी तो परिकल्पना के अनुसार व्यवहार करेंगी । इसी प्रकार संख्याओं के सम्बन्ध सत्य होते हैं चाहे कोई गिनने वाला न हो और कोई गिनी जाने वाली चीज भी न हो । गणितीय रेखा आपातिक (Contingent) वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करती है । लाइबनित्स के अनुसार रेखा को वैचारिक रूप से असंख्य अविभाज्य बिन्दुओं में विभाजित किया जा सकता है । इन बिन्दुओं में ही रेखा का मौलिक स्वभाव है । प्रत्येक बिन्दु रेखा को समान रूप से प्रस्तुत नहीं करता है तथा प्रत्येक बिन्दु में सम्पूर्ण रेखा की सम्भावना विद्यमान है किन्तु रेखा में सभी के स्थान भिन्न है । अतः प्रत्येक बिन्दु रेखा का एक भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है और सभी दृष्टिकोण सार्थक है क्योंकि यदि एक को भी छोड दिया जाये तो रेखा की सम्पूर्ण उद्भावना में से कुछ घट जायेगा । किसी रेखा को निर्मित करने वाले सभी बिन्दु समान रूप से आवश्यक हैं, सभी भिन्न दृष्टिकोणों से रेखा की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं ।

ह्यूम का मानना है कि हमारे ज्ञान का आरम्भ प्रत्यक्षानुभव से होता है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि ज्ञान के घटक या उसकी आधार सामग्रियाँ कुछ और हैं । वे भी प्रत्यक्षानुभव ही हैं । इसलिए ह्यूम के मत को दोनो प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है: यह भी कह सकते हैं कि ज्ञान का आदि स्रोत प्रत्यक्षानुभव है और यह भी की ज्ञान की आदि सामग्रियाँ प्रत्यक्षानुभव हैं । प्रत्यक्षानुभव से अधिक मौलिक या अधिक आधारभूत हमें कुछ भी नहीं मिलता ।[३]

ह्यूम ने शब्दार्थपरक तथा अनुभवपरक में भेद करते हुए गणितीय ज्ञान को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्दार्थपरक माना है । इनका मानना है कि गणितीय ज्ञान में अनुभवपरकता नहीं होती है । गणितीय प्रतिज्ञाप्तियों को शब्दार्थपरक कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें किसी प्रकार की कोई नई बात नहीं की जाती है । जैसे २+२=४ यह वाक्य शब्दार्थपरक है क्योंकि दो संयोग दो हमेशा चार ही होगा चाहे कोई भी परिस्थिति क्यों न हो ।[४] गणितशास्त्र, तर्कशास्त्र उनके मत में आकारपरक है तथा सम्प्रत्ययों का परस्पर सम्बन्ध एवं उनके धर्मों का व्यवस्थित अध्ययन करते हैं । तर्कशास्त्रीय एवं गणितीय ज्ञान में अपरिहार्यता अवश्य है परन्तु इस ज्ञान में जगत्परकता का अभाव है ।

ह्यूम के अनुसार मानव ज्ञान के दो प्रकार हैं—

(१) प्रत्ययों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान (Relation of Ideas)

(२) वस्तुजगत् का ज्ञान (Matter of Fact)

गणितशास्त्र, ज्यामिति, बीजगणित एवं तर्कशास्त्र से प्रत्ययों के सम्बन्धों का ज्ञान होता है । गणित में निश्चित और असन्दिग्ध ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । यहाँ दो और दो हमेशा चार ही है । यहाँ सार्वभौम और अनिवार्य सिद्धान्तों की कल्पना की जा सकती है क्योंकि यह कोरी कल्पना है और इसका वस्तुजगत् से कोई सम्बन्ध नहीं है । ज्यामिति, अंकगणित और बीजगणित आदि में प्रत्येक विचार स्वयंसिद्ध है । उदाहरण स्वरूप बिन्दु या रेखा की ज्यामिति में जो व्याख्या की जाती है वह पूर्ण व्याख्या है और उस व्याख्या के अनुरूप बिन्दु अथवा रेखा वस्तुजगत् में नहीं होती है । गणित में मूल परिभाषाओं के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं उनके मिथ्या होने का प्रश्न ही नहीं उठता, ये अनिवार्य रूप से सही होते हैं क्योंकि वे नवीन तथ्य न होकर विभिन्न प्रत्ययों के सम्बन्ध मात्र होते हैं । उदाहरणस्वरूप पाँच का तिगुना, तीस के आधे के बराबर होता है । इसमें तीस का आधा और पाँच का तिगुना और इन दोनों का बराबर होना— ये विभिन्न प्रत्ययों में विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध दिखलाते हैं ।

ह्यूम के अनुसार निश्चयात्मक ज्ञान गणित में मिलता है । यह अनिवार्य सत्य है कि किसी भी त्रिभुज के तीन कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है । यह प्रतिज्ञप्ति त्रिगुण के प्रत्यय के विश्लेषण मात्र से प्राप्त होती है । इसके लिए हमें अनुभव का सहारा नहीं लेना पडता । इसी प्रकार यदि इस ढेर में दस पत्थर हैं और दूसरे ढेर में चार तो दोनों में चौदह पत्थर होंगे, अनिवार्यतः सत्य है । अपने प्रथम ग्रन्थ 'ए ट्रिटीज ऑफ ह्यूमन नेचर' में ह्यूम ज्यामिति को अंकगणित से कम निश्चयात्मक मानता है । वह कहता है कि ज्यामिति के प्रत्यय या प्रतिज्ञप्ति पूर्णतः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनुभव-निरपेक्ष नहीं है, लेकिन अपने दूसरे ग्रन्थ 'एन इन्क्वायरी कनसर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग' में सारे गणित को प्रागनुभविक और अनिवार्य मानता है। गणित के स्वरूप के विषय में इस सिद्धान्त का निष्कर्ष है कि गणित से हमें विश्व के विषय में अनुभव जगत् के विषय में कोई ज्ञान नहीं मिलता है क्योंकि उसका सम्बन्ध प्रत्ययों के सम्बन्धों से हैं न कि तथ्यों से। ह्यूम का यह दावा है कि गणितीय ज्ञान निश्चयात्मक और तथ्यात्मक दोनों नहीं हो सकता। यदि उसके वाक्य अनिवार्य हैं तो वे तथ्यों के विषय में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं दे सकते।

काण्ट का दर्शन बुद्धिवादी एवं अनुभववादी दार्शनिकों जैसे लाइबनित्स, ह्यूम इत्यादि के दर्शन से प्रभावित रहा है। उसने गणितीय ज्ञान को संश्लेषणात्मक अवश्य माना है, परन्तु इस ज्ञान की संश्लेष्यता से उसकी जगत्परकता मानने को तैयार नहीं है। लाइबनित्स एवं ह्यूम ने प्रतिज्ञप्तियों को दो भागों में विभक्त किया है—

(१) विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति (२) तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्ति।

दोनों दार्शनिकों ने गणितीय प्रतिज्ञप्तियों को विश्लेषणात्मक माना है। परन्तु काण्ट ने गणितीय प्रतिज्ञप्तियों को संश्लेषणात्मक तथा प्रागनुभविक माना है। संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों के बारे में बताते हुए काण्ट ने आनुभविक (Empirical) तथा अनानुभविक (Non-Empirical) दोनों में भेद किया है। काण्ट आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों को अनुभवपरक तथा अनानुभविक को प्रागनुभविक मानता है। उनके मत में संश्लेषणात्मक अनुभवपरक प्रतिज्ञप्तियाँ इन्द्रिय संवेदन पर निर्भर करती हैं और संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ इन्द्रिय संवेदन पर निर्भर करती हैं।[५] उनके मतानुसार गणित तथा ज्यामिति विश्लेषणात्मक न होकर संश्लेषणात्मक तथा प्रागनुभविक है, क्योंकि यह देश और काल के बारे में हैं तथा शुद्ध गणित का विषय वस्तु देश और काल है जो कि आनुभविक सत्ता से स्वतन्त्र है। काण्ट ने अपने ग्रन्थ 'शुद्ध बुद्धि की समीक्षा' में बताया है कि गणितीय प्रतिज्ञप्ति का विचार और उसकी संरचना में भेद है। उनके मतानुसार इन्द्रियानुभव अपरिहार्य रूप में देश और काल की अपेक्षा रखता है तथा देश और काल स्वयं अनुभव का विषय नहीं है।[६] काण्ट के लिए रेखागणितीय तथा अंकगणितीय तत्त्व तथा उनके धर्म एवं सम्बन्ध विषयक तथ्य केवल तार्किक सम्भावना पर आधारित नहीं है परन्तु संरचना पर आधारित है। जैसे २+३=५ यह तथ्य केवल परिभाषा पर आधारित नहीं है परन्तु संरचना पर आधारित है।

विज्ञान में गणितशास्त्र एवं तर्कशास्त्र की भूमिका को स्पष्ट करना रुडोल्फ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कार्नप का मुख्य लक्ष्य है। उनका मानना है कि निगमन की प्रक्रिया में गणित और तर्कशास्त्र उपकरणात्मक रूप में सहायक होते हैं, अर्थात् गणित एवं तर्कशास्त्र अनुभवपरक विज्ञान में निगमन के लिए उपकरण उपलब्ध कराते हैं तथा कुछ प्रतिपाद्य देते हैं। गणित एवं तर्कशास्त्र स्वयं ही विज्ञान है। विज्ञान अनुभवपरक है लेकिन तर्कशास्त्र एवं गणितशास्त्र स्वयं विज्ञान के रूप में है परन्तु उनसे उपलब्ध प्रतिपाद्य वस्तुपरक नहीं है, अर्थात् उनमें जगत्परकता का अभाव है। कार्नप अनुभवपरक विज्ञान तथा गणित एवं तर्कशास्त्र की प्रक्रिया में अन्तर करते हैं। उनका मानना है कि जिस प्रकार हम भौतिकी के प्रतिपाद्यों को परीक्षित करते हैं उस तरह से गणितीय प्रतिपाद्यों को परीक्षित नहीं कर सकते।[७]

तार्किक प्रत्यक्षवादी तर्कशास्त्र एवं गणित के सार्वभौम निर्णयों को पुनरुक्ति मानते हैं लेकिन आनुभविक निर्णयों को वह सार्वभौम एवं सुनिश्चित नहीं मानते, मात्र पुनरुक्तियाँ ही सुनिश्चित हैं। आनुभविक निर्णय मात्र प्राक्कल्पनाएँ हैं, जिन्हें इन्द्रियानुभव के आधार पर यथार्थ अथवा अयथार्थ सिद्ध किया जा सकता है। वे निर्णय जिनके आधार पर इन प्राक्कल्पनाओं को व्यक्त करते हैं स्वयं भी प्राक्कल्पनाएँ ही हैं जो आगे इन्द्रियानुभव के परीक्षण पर आधारित इस प्रकार कोई भी निर्णय अन्तिम नहीं होता।[८]

सी.जी. हेम्पल ने तार्किक प्रत्यक्षवादियों के मत को स्वीकार करते हुए अपने लेख 'ऑन दी नेचर ऑफ मैथेमेटिकल ट्रुथ' में उनके मत को सरल रूप में समझाया है। उनका मत कार्नप के मत के अनुरूप ही है जिस तरह कार्नप ने गणित तथा तर्कशास्त्र को अनुभवपरक विज्ञान में उपकरण के रूप में स्वीकार किया है उसी तरह हेम्पल भी अनुभवपरक विज्ञान में गणित एवं तर्कशास्त्र की भूमिका को सरल तथा स्पष्ट रूप में समझाते हुए गणित तथा तर्कशास्त्र को उपकरणात्मक रूप में स्वीकार करते हैं।

गणितज्ञों के अनुसार गणितीय अभिकथन स्वयंसिद्ध तथ्य है परन्तु हेम्पल ने इस मत को स्वीकार नहीं किया है। उनका मानना है कि गणित में बहुत से ऐसे जटिल गणितीय अभिकथन है जिनकी सत्यता तथा असत्यता का पता नहीं चलता है।[९] गोङलबेच का अनुमान (Conjectures) है कि प्रत्येक दो से अधिक प्रत्येक समसंख्या किसी न किसी दो आणविक संख्याओं के योगफल के बराबर है। उदाहरणस्वरूप २+२=४, ३+३=६, ५+३=८, ७+३=१०, ७+७=१४, ११+३=१४, १३+७=२०, -----, २९+१९=४८,------, ९३+३=९६ इत्यादि।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हेम्पल इस उदाहरण से स्पष्ट करते हैं कि यदि सभी गणितीय प्रतिपाद्य स्वयंसिद्ध हों तो गोडलबेच्च का उपर्युक्त प्रतिपाद्य भी स्वयंसिद्ध होना चाहिए था, लेकिन इस प्रतिपाद्य की सत्यता तथा असत्यता के बारे में कोई प्रमाण नहीं है। पुनश्च कुछ प्रतिपाद्य हैं जिनकी सत्यता एवं असत्यता पता नहीं है। जैसे जुडवाँ आणविक संख्याएँ भी अगणनीय अपरिमित हैं यह एक अनिर्णित गणितीय प्रतिपाद्य है, क्योंकि जुडवाँ आणविक संख्याओं की सत्यता एवं असत्यता के बारे में पता नहीं है। उदाहरणस्वरूप ३ और ५, ११ और १३, २९ और ३१, ४१ और ४३ तथा ५९ और ६१ इत्यादि ये सभी जुडवाँ आणविक संख्याएँ हैं।

वस्तुत: मिल गणित एवं अनुभवपरक विज्ञान में भेद नहीं करते हैं। गणित के अभिकथन अनुभवपरक है तथा सार्वभौमिक हैं। हेम्पल इस मत का खण्डन करते हैं। उदाहरणस्वरूप २+३=५ यह एक गणितीय अभिकथन है। इस अभिकथन में दो, तीन तथा संयोग के चिह्न से पाँच का निर्माण हुआ है, पाँच दो एवं तीन से अलग नहीं है इन्हीं दोनों से पाँच का निर्माण हुआ है। यह अभिकथन विश्लेषणात्मक है तथा अनुभवपरक नहीं है। इस अभिकथन को हम किसी भी परिस्थिति में त्यागने को तैयार नहीं है। अनुभव के आधार पर इसका खण्डन एवं मण्डन नहीं किया जा सकता, इसलिये इसमें जगत्परकता का अभाव है। हेम्पल तथा अन्य तार्किक प्रत्यक्षवादियों का मत है कि गणितीय एवं तर्कशास्त्रीय अभिकथनों की सिद्धि अनुभव के आधार पर नहीं होती और न ही उनका खण्डन। इसलिए इनमें जगत्परकता का अभाव है वस्तुत: इस कोटि के अभिकथन अनुभव के आधार पर सम्भव है। शब्दार्थपरक अभिकथन जगत् के बारे में कोई समाचार नहीं देते है अर्थात् वस्तु-स्थिति के बारे में अवगत नहीं कराते हैं। हेम्पल a=b और b=c तो a=c इस अभेद सम्बन्ध विषयक नियम को उदाहरण रूप में लेकर अपने तर्क की पुष्टि करते हैं। इसकी अनुभवनिरपेक्षता को स्वीकार करते हैं। उसमें जगत्परकता के अभाव का दावा करते हैं। हेम्पल गणित की तर्कशास्त्रीय परकतावाद को स्वीकार करते हैं। इस मत के अनुसार तर्कशास्त्र की परिधि में रहकर ही अंकगणितीय अपरिभाषित सम्प्रत्ययों जैसे शून्य, प्राकृतिक संख्या एवं अव्यवहित परवर्तित्व इत्यादि को परिभाषित किया जा सकता है। उनके मत में गणितशास्त्र का विस्तार केवल मूलरूप में तर्कशास्त्रीय सम्प्रत्ययों पर आधारित परिभाषाओं के आधार पर सम्भव होता है।[९] गणितशास्त्रीय अभिकथनों की ज्ञानमीमांसीय कोटि वही है, जो तर्कशास्त्रीय अभिकथनों की है। गणित एवं तर्कशास्त्र के प्रतिपाद्य शब्दार्थपरक है एवं अनुभव पर आश्रित न होने के कारण वे तथ्यपरक नहीं है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

''गणितीय एवं तर्कशास्त्रीय अभिकथन शब्दार्थपरक एवं अनुभवाश्रित होते हुए भी अनुभवपरक विज्ञान में उनकी विशेष भूमिका है। वह भूमिका नये तथ्य बताने की नहीं है, केवल स्वीकृत तथ्यपरक अभिकथनों से कौन-से अन्य तथ्यपरक अभिकथन निगमित होते हैं वह अवगत कराता है।''

९७ गायत्री नगर, 'ए'
महारानी फार्म, दुर्गापुरा
जयपुर - ३०२०१८.

नरेन्द्र सिंह महला

टीप्पणियाँ

1. Mates, B The Philosophy of Leibnitz, Chapter-6, Oxford University Press, New York, 1986.
2. Leibnitz, G.W., New Essays on the Human Understanding, Chapter-1, Sec. 5. Cambridge, University Press, London, 1982.
3. Hume, D., A Treatise of Human Nature, (Edited) L . A. Selby-Bigge, Oxford University Press, London, 1973, pp. 19-23.
4. Copleston, S.J. Frederick, A History of Philosophy, Vol. 5, Part-III, A Division of Doubleday & Company, Inc. New York, 1964.
5. Hume, D., A Treatise of Human Nature, (Edited) A.D., Lindsay, J.M. Dent & Sons Ltd,London, 1961, pp. 205-223.
6. Korner, S., The Philosophy of Mathematics, Harper & Brother's, New York, 1962, pp. 25-27.
7. Carnap, R., Foundations of Logic and Mathematics, Vol. I, University of Chicago Press, Chicago, 1959, p.2.
8. Ayer, A. J. Langauage, Truth and Logic, Oxford University Press, New York, 1946, pp. 93-94.
9. Benacerraf, P. and Hilary Putnam, Philosophy of Mathematics, Cambridge University Press, London, 1983, pp. 377-78.
10. Ibid. pp. 369-74.
11. Ibid, p. 379.

★

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna A.M. Ghose(eds), Comtemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran.) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi(ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A. M. Ghose and P. K. Srivastaav(eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and P. P. Gokhale(eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities(upto 1980), Part I, Rs. 50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs. 25/--

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs. 30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs. 100/-

Contact :

The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Pune,
Pune-411007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भाट्टमीमांसा में ज्ञान की अवधारणा

ज्ञान तथा उसका स्वरूप

भारतीय दर्शन की प्राय: सभी शाखाओं में ज्ञान का सर्वोपरी महत्त्व स्वीकार किया गया है। भारतीय चिन्तन की नास्तिक श्रेणी में प्रतिष्ठित महायान शाखा में अन्तर्भूत क्षणिक विज्ञानवादियों ने जहाँ एक मात्र प्रवाही क्षणिक विज्ञानधारा के रूप में तत्त्व का प्रतिपादन किया है, वहीं आस्तिक दर्शनों में मेरुमणि के रूप में अभिमत अद्वैत वेदान्त में एकमात्र नित्य विज्ञानात्मक ब्रह्म की सत्ता मानी गई है। दोनों प्रस्थानों में समस्त बाह्य प्रपंच को इस विज्ञानात्मक ज्ञान के विवर्त रूप में प्रतिपादित किया गया है।

एकमात्र ज्ञान का ही अस्तित्व मानने वाले इन दोनों विज्ञानवादी दर्शनों के अतिरिक्त शून्यवादियों को छोडकर शेष समस्त दार्शनिकन प्रस्थान ज्ञान से भिन्न रूप में बाह्य पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं अत: ये सभी वस्तुवादी दर्शन कहे जाते हैं। इनमें भी ज्ञान के स्वरूप तथा उसकी ज्ञप्ति के सन्दर्भ में नैयायिक, प्रभाकर तथा भाट्टों में विशेष रूप से मतभेद दृष्टिगोचर होता है।

न्याय तथा मीमांसा में ज्ञान से विषय की भिन्नता के सन्दर्भ में एकरूपता होने पर भी ज्ञान के स्वरूप तथा उसकी ज्ञप्ति के सन्दर्भ में परस्पर विरोध है। विषयों को ज्ञान का आकार मानने के बौद्ध सिद्धान्त के विरुद्ध नैयायिक विषय को ज्ञान का आकार नहीं मानते। योगाचार तथा वैभाषिक इन दोनों बौद्ध सम्प्रदायों में ज्ञान को साकार माना गया है। इस ज्ञान का आकार ही योगाचार के मतानुसार विभिन्न पदार्थों के रूप में भासित हुआ करता है। वैभाषिक बौद्ध ज्ञान का अपना कोई आकार नहीं मानते। ज्ञान के विषयरूप पदार्थों के आकार से ज्ञान को आकारित स्वीकार करते हैं। बौद्धों के इस ज्ञान आकारवाद के सिद्धान्त के विपरीत न्यायदर्शन में ज्ञान को निराकार तथा आत्मा का गुण माना गया है। इनके मतानुसार अयं घट: (यह घट है) यह व्यवसायात्मक ज्ञान आत्मा के गुण के रूप में उत्पन्न होता है तथा अहं घटं जानामि इस मानस-प्रत्यक्ष रूपी अनुव्यवसायात्मक ज्ञान से इसका ग्रहण होता है अत: न्यायमत में ज्ञान प्रत्यक्षगम्य पदार्थ माना गया है।[२]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्ञान की अतीन्द्रियता

मीमांसा-दर्शन में प्रभाकर ने ज्ञान, ज्ञाता तथा ज्ञेय, इन तीनों की एक साथ अनुभूति को प्रमाण मानते हुए समान-संवित्-संवेद्यता से विषय तथा ज्ञाता के साथ ज्ञान को भी त्रिपुटी-प्रत्यक्ष का विषय स्वीकार कर ज्ञान की प्रत्यक्षवेद्यता का प्रतिपादन किया है ।[३]

प्रभाकर के सिद्धान्त के विपरीत आचार्य कुमारिल भट्ट ने शाबरभाष्य के आधार पर ज्ञान की अतीन्द्रियता स्थापित की है । शबरस्वामी का कहना है कि अर्थ के अज्ञात रहने पर कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं होता । अर्थज्ञान होने पर (अर्थनिष्ठ ज्ञातता के बल पर) अनुमान द्वारा ज्ञान का बोध हो जाता है ।[४] शबरस्वामी के इस कथन के आधारपर आचार्य कुमारिलभट्ट ने ज्ञातता या प्राकट्य के आधार पर ज्ञान की अर्थापत्तिगम्यता का प्रतिपादन करते हुए इसे अतीन्द्रिय पदार्थ निरूपित किया है । श्लोकवार्तिक में इनका कहना है कि जिस प्रकार ज्ञान की शक्ति-स्वरूपा वासना अपनी उत्पत्तिशीलता के कारण अथवा वासनात्व के कारण न स्वकीय अंश को ग्रहण करती है न स्व के किसी भी अंश से गृहीत होती है, उसी प्रकार ज्ञान भी अपनी उत्पत्तिशीलता के कारण अथवा ज्ञान होने के नाते (ज्ञानत्व के कारण) न तो अपने किसी अंश को ग्रहण करता है और नहीं अपने किसी अंश से गृहीत होता है।[५]

ज्ञान की अर्थापत्तिगम्यता

ज्ञान की स्वसंवेद्यता में अपनी असहमति व्यक्त करने के पश्चात् कुमारिल भट्ट ज्ञातत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापति को ज्ञान के ग्राहक प्रमाण के रूप में प्रकाशित करते हैं । श्लोकवार्तिक के शून्यवाद निराकरण - सन्दर्भ में इनका कहना है कि "घटादि अर्थों का जब तक ज्ञान नहीं होता तब तक 'ज्ञातो मया घट:' इस प्रकार की घटनिष्ठ ज्ञातता का भी प्रतिसन्धान नहीं होता । घटादि अर्थों का ज्ञान होने के बाद ही 'ज्ञातो मया घट:' ऐसी अर्थनिष्ठ ज्ञातता-विषयिणी प्रतीति निष्पन्न हो जाती है इसलिए ज्ञातत्वान्यथानुपपत्ति-प्रसूतार्थापत्ति के अर्थज्ञान के पूर्व, अर्थ में ज्ञातत्त्व न होने के कारण उत्पन्न न होने से तथा अर्थज्ञान हो जाने के बाद अर्थनिष्ठ ज्ञातत्व की (ज्ञान रूप कारण के अभाव में होने वाली) अनुपपत्ति से ज्ञान ज्ञातत्व का कारण है, इस अर्थापत्ति प्रमाण के उत्पन्न हो जाने से यह सुनिश्चित हो जाता है कि यह अर्थापत्ति ही ज्ञान का प्रतिसन्धान करने वाला ज्ञान-ग्राहक प्रमाण है ।[६]

पार्थसारथि मिश्र के मत में मानस प्रत्यक्षगम्य सम्बन्ध तथा अर्थापत्ति की ज्ञान ग्राहकता

आचार्य पार्थसारथि मिश्र आत्मा तथा ज्ञेय के मानस प्रत्यक्षगम्य सम्बन्ध तथा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्ञानजन्य विषयनिष्ठ ज्ञातत्व या प्राकट्य इन दोनों तत्त्वों का ज्ञान के कल्पक के रूप में प्रतिपादन करते हैं । इनमें प्रथम आत्मा तथा विषय के सम्बन्ध में इनका कहना है कि अयं घट: (यह घट है) इस प्रकार के व्यवसायात्मक ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर घटज्ञान के कर्ता (आत्मा) तथा विषयभूत घट, इन दोनों के मध्य घटज्ञान द्वारा एक व्याप्तृव्याप्यत्वरूप सम्बन्ध उत्पन्न हो जाता है जिसका प्रतिसन्धान 'ज्ञातो घट:' इस मानस-प्रत्यक्ष द्वारा निष्पन्न होता है । विषय तथा आत्मा के बीच उत्पन्न होने वाले इस सम्बन्ध को पार्थसारथि ज्ञान का कल्पक (ग्राहक) मानते हैं । इस सन्दर्भ में इनका कहना है कि बिना किसी आगन्तुक कारण के आत्मा का अर्थ के प्रति व्याप्तृत्व उत्पन्न नहीं होता । आत्मा के विषय के साथ व्याप्तृत्व के इस कारण को ही लोक में ज्ञान-शब्द द्वारा अभिहित किया जाता है ।[७]

पार्थसारथि का कहना है कि ''ज्ञान'' को स्वयंप्रकाश मानने वालों को भी 'ज्ञातो मया घट:' इस मानस-प्रत्यक्ष के विषयभूत आत्मा तथा विषय के उक्त व्याप्तृव्याप्यत्वरूप सम्बन्ध को मानना अनिवार्य है, अन्यथा 'ज्ञातो मया घट:' इस ज्ञाता-ज्ञेय या ज्ञान तथा ज्ञेय के सम्बन्ध का व्यवहार नहीं हो सकेगा । यह नियम है कि जितने अर्थ का प्रकाशन होता है उतने का ही व्यवहार हो सकता है । अन्य का नहीं । प्रकृत-स्थल में संवित् (ज्ञान) स्वयं प्रकाशित होता है तथा अर्थ (विषय) भी उसके द्वारा प्रकाशित हो जाता है ऐसा मान भी लिया जाए तो भी ज्ञानसम्बन्ध किससे प्रकाशित होगा? वह भी इसी संवित् से प्रकाशित हो जाएगा ऐसा मानें तो यह सम्भव नहीं है क्योंकि जब ज्ञान उत्पन्न हो रहा था उस समय ज्ञान का विषय के साथ सम्बन्ध निष्पन्न ही नहीं हुआ था । ज्ञान का ज्ञेय (विषय) के साथ जो सम्बन्ध है वह मात्र प्रकाशकत्व ही हो सकता है । इसके अतिरिक्त ज्ञान का ज्ञेय के साथ अन्य कोई भी सम्बन्ध सम्मत नहीं है । संवित् (ज्ञान) के उत्पन्न हो जाने पर विषय के प्रकाशित हो जाने के पश्चात् निष्पन्न होने वाले सम्बन्ध को उसी संवित् का विषय नहीं माना जा सकता क्योंकि संवित् अपने तथा अपने अर्थ को प्रकाशित कर अपने प्रकाशन-व्यापार से विरत हो जाती है । पुनश्च उसके द्वारा सम्बन्ध को विषय नहीं बनाया जा सकता । संवित् क्षणिक होने से प्रथम अर्थ को प्रकाशित कर बाद में सम्बन्ध को भी प्रकाशित करे यह सम्भव नहीं है । सम्बन्ध स्वयं प्रकाशि हो जाएगा ऐसा माना जाए तो यह भी सम्भव नहीं है । ज्ञान तथा ज्ञेय के इस प्रकाशित्व सम्बन्ध के स्वयं प्रकाशित होने में कोई प्रमाण नहीं है फलत: केवल यही मार्ग अवशिष्ट रह जाता है कि घटादि अर्थों का ज्ञान हो जाने पर इन घटादि विषयों के साथ आत्मा के मानस-प्रत्यक्षगम्य व्याप्य-व्याप्तृत्वरूपी प्रकाशकत्व सम्बन्ध को ही ज्ञान का कल्पक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(ग्राहक) माना जाए।[८]

अयं घट: (यह घट है) इस प्रकार के घटादि के प्रत्यक्ष हो जाने पर उक्त मानस-प्रत्यक्षगम्य सम्बन्ध से जिस प्रकार घटादि-अर्थविषयक ज्ञान का ग्रहण हुआ था उसी प्रकार अर्थ की अनुमिति हो जाने के पश्चात् अनुमेय अर्थ के ज्ञान का भी इसी सम्बन्ध से ग्रहण हो जाता है। इसी प्रकार स्मृतिज्ञान तथा अन्य सभी परोक्ष ज्ञानों का भी ग्रहण इस व्याप्यव्याप्तृत्वरूपी प्रकाशकत्व सम्बन्ध से निष्पन्न हो जाने से इस सम्बन्ध को सभी ज्ञनों का ग्राहक माना गया है। उक्त मानस प्रत्यक्षगम्य सम्बन्ध के अतिरिक्त विषयनिष्ठ ज्ञानजन्य ज्ञातता, ज्ञातृत्व या प्राकट्यरूपी अतिशय को भी पार्थसारथि मिश्र उसके जनक ज्ञान का कल्पक (ग्राहक) प्रतिपादित करते हैं।[१०]

ज्ञातता या प्राकट्य की ज्ञानभिन्नता

घटादि विषयों का ज्ञान होने पर उनमें ज्ञान द्वारा उत्पादित प्राकट्य या ज्ञातता के आधार पर विवेचित अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान की ग्राहकता के सिद्धान्त पर पूर्वपक्षियों की यह आपत्ति है कि विषय में ज्ञानजन्य ज्ञातता ज्ञान से भिन्न नहीं है अपितु ज्ञानस्वरूप है अत: इसके आधार पर अपने स्वरूप भूत ज्ञान का ग्रहण कैसे माना जा सकता है ? पूर्वपक्ष के इस प्रश्न के मूल में निहित ज्ञान तथा ज्ञातता का अभेद या एकरूपता भाट्टमीमांसकों को अभिमत नहीं है। उनका कहना है कि ज्ञान द्वारा विषय में जो प्राकट्य या ज्ञातता उत्पन्न होती है, उसे ज्ञान स्वरूप नहीं माना जा सकता क्योंकि ज्ञातता या प्राकट्य का अधिकरण घट है जबकि ज्ञान का अधिकरण आत्मा है अत: परस्पर भिन्न अधिकरणवृत्ति दोनों को एकरूप नहीं माना जा सकता। दोनों की भिन्नता व्यवहार से भी सिद्ध हो जाती है। घट के विषय में ''घटो भाति'' ऐसा प्रयोग हुआ करता है, घटो जानाति ऐसा प्रयोग नहीं होता। यदि ज्ञान तथा विषयनिष्ठ प्रकाश, प्राकट्य या ज्ञातत्व एक होते तो ऐसा प्रयोग भी होना चाहिए था। इसी प्रकार जैसे ' घटं जानाति' यह प्रयोग होता है वैसे 'घट भाति' यह प्रयोग नहीं होता। ज्ञान तथा प्रकाश या प्राकट्य या ज्ञातता की एकरूपता में दोनों में से एक के स्थान पर दूसरे के प्रयोग की निष्पत्ति हो जाती परन्तु ऐसा होता नहीं है अत: यह सुनिश्चित है कि ज्ञान तथा विषयनिष्ठ प्रकाश या प्राकट्यरूप ज्ञातत्व पृथग् है।[११] यह प्राकट्य या प्रकाश ज्ञान से पृथग् होने के कारण इसके आधार पर ज्ञाततान्यथानुपपत्तिरूपार्थापत्ति द्वारा ज्ञान की ग्राहकता प्रमाणित हो जाती है।

ज्ञानभेद तथा ज्ञान का स्वत: प्रमाण्य

भारतीय चिन्तन के दार्शनिक प्रस्थानों में प्राभाकरों तथा विशिष्टाद्वैतियों को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

छोडकर प्राय: सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने ज्ञान को यथार्थ तथा अयथार्थ, इन दो वर्गों में विभाजित किया है । न्यायदर्शन में अनुभव तथा स्मृति को यथार्थ ज्ञान तथा इनसे भिन्न संशय, विपर्यय तथा तर्कज्ञान को अयथार्थ माना गया है ।[१२] प्राभाकरी मीमांसा में सभी ज्ञानों को यथार्थ मानकर अख्याति के आधार पर अन्य सम्प्रदायों में प्रतिपादित मिथ्याज्ञान की स्थिति में होने वाली विसङ्गति की उपपत्ति प्रदर्शित की गई है ।[१३] मीमांसा के भाट्ट सम्प्रदाय में भी नैयायिकों के समान ज्ञान के 'यथार्थ' तथा 'अयथार्थ' ये दो भेद स्वीकार किए गये हैं । कमलाकर भट्ट ने मीमांसा-कुतूहल में ज्ञानरूप बुद्धि के प्रथम 'अनुभव' तथा 'स्मृति' ये दो भेद प्रदर्शित करने के पश्चात् अनुभवात्मक ज्ञान के यथार्थ तथा अयथार्थ ये दो भेद निरूपित किए हैं । इनमें प्रथम अनुभवात्मक यथार्थ ज्ञान को ही प्रमाणजन्य मानकर इन्होंने प्रमा के रूप में प्रतिपादित किया है ।[१४]

ज्ञान के यथार्थ तथा अयथार्थ रूपी भेद को यद्यपि नैयायिकों के अनुरूप भाट्टमीमांसकों ने भी स्वीकार किया है तथापि इनके मत में वैशिष्ट्य यह है कि अनुभूतिकाल में ये सभी ज्ञानों को यथार्थ ज्ञान के रूप में ही स्वीकार करते हैं । यथार्थ रूप से गृहीत ज्ञान के विषय में होने वाली प्रवृत्ति यदि विफल हो जाए तभी ये पूर्वगृहीत ज्ञान की अयथार्थता को स्वीकार करते हैं । न्यायमत में ज्ञान यथार्थ तथा अयथार्थ इन दोनों कोटियों से विलक्षण रहता हैं । प्रवृत्ति सफल होने पर इनके मत में ज्ञान का याथार्थ्यरूपी प्रामाण्य सफल प्रवृत्ति-हेतु-मूलक अनुमान से सुनिश्चित हुआ करता है । ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय से तथा याथार्थ्य रूपी प्रामाण्य का ग्रहण ज्ञानग्राहक सामग्री से परत: अनुमान से गृहीत होने के कारण ज्ञानप्रामाण्य के सन्दर्भ में न्यायमत परत: प्रामाण्य का दृष्टिकोण उपस्थापित करता है । ज्ञान के विषय में होने वाली प्रवृत्ति विफल होने पर प्रवृत्ति-वैफल्यमूलक अनुमान से ज्ञान के अप्रामाण्य का प्रतिपादन होने के कारण न्यायमत में अप्रामाण्य भी परत: स्वीकार किया गया है ।

नैयायिकों के विपरीत अप्रामाण्य को परत: स्वीकार करने पर भी विधिवाक्य द्वारा निरूपित यागकर्तव्यतारूपी धर्म में संशयरहित प्रवृत्ति को सुनिश्चित करने के लिए भाट्टों ने सर्वप्रथम ज्ञानान्तर से बाधरहित, संशयरहित तथा पक्के तौर पर उत्पन्न होने वाले अनुभावात्मक ज्ञान को प्रमा निरूपित किया है ।[१५] तथा ज्ञान-ग्राहक के रूप में प्रदर्शित ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्ति को ही ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्राहक निरूपित करते हुए वेद के सर्वोच्च प्रामाण्य की रक्षा हेतु स्वत: प्रामाण्यवाद के सिद्धान्त की स्थापना की है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्ञान की द्विविधता

भाट्ट सम्प्रदाय में ज्ञान को आत्मा का गुण माना गया है । मानमेयोदयकार नारायण-पण्डित ने गुणनिरूपण-प्रसङ्ग मे चौबीस गुणों में बुद्धि (ज्ञान) की गणना की है ।[१६] तथा आत्मा के छह विशेष गुणों में एक विशेष गुण के रूप में ज्ञान को स्थापित किया है ।[१७] आत्मा के विशेष गुण के रूप में ज्ञान को नैयायिकों ने भी स्वीकार किया है ।[१८] परन्तु नैयायिकों के सिद्धान्त से भाट्टसिद्धान्त का अन्तर इतना ही है कि जहाँ नैयायिक ज्ञान को मात्र गुण मानते हैं वहाँ भाट्टमीमांसक ज्ञान को गुण मानते हुए उसे क्रियास्वभाव प्रतिपादित करते हैं । आचार्य कुमारिल भट्ट का कहना है कि (घटादि) विषय में बुद्धि की उत्पत्ति (ज्ञान का होना) ही विषय-प्रकाशनरूप क्रिया कहलाती है तथा इस ज्ञान द्वारा ही अर्थ का प्रकाशनरूप फल प्राप्त होता है। अत: इस दृष्टि से यह प्रकाशक होने से करण भी कहलाता है ।[१९] भाट्टमीमांसकों द्वारा ज्ञान को गुणरूप होने के साथ क्रियारूप मानने पर जयन्तभट्ट का यह आक्षेप है कि यदि ज्ञान को क्रियास्वभाव माना जाए तो फिर उसे प्रत्यक्ष मानना होगा । अतीन्द्रिय नहीं । उत्क्षेपणादि समस्त क्रियाएँ प्रत्यक्षगम्य हों परन्तु ज्ञानरूप क्रिया अप्रत्यक्ष हो यह विभाग मानना युक्तिसङ्गत नहीं है ।[२०]

भाट्टमीमांसको का इस आशङ्का पर यह समाधान है कि क्रियास्वभाव मान लेने से ज्ञान की अतीन्द्रियता बाधित नहीं होती । प्रत्येक क्रिया प्रत्यक्षगम्य ही हो यह आवश्यक नहीं है । याग भी एक स्वर्गजनक क्रिया है परन्तु स्वर्गजनकत्व रूप से इसका अवबोध प्रत्यक्ष से नहीं होता अपितु 'यजेत स्वर्गकाम:' जैसे वेदवाक्यों द्वारा ही हुआ करता है । लौकिक स्थल में भी 'पचति' पदवाच्य विक्लतित क्रिया भी प्रत्यक्ष नहीं है अपितु अपने कर्मओदन में विष्पन्न पाकरूप फल के द्वारा अनुमित होती है । इसी प्रकार 'ज्ञान' क्रिया-स्वभाव होने पर भी इसे प्रत्यक्ष ही माना जाए यह आवश्यक नहीं है ।[२१]

ज्ञान की द्विविधता तथा ज्ञातता-सिद्धान्त का प्रयोजन

भाट्ट-सम्प्रदाय में प्राप्त सन्दर्भो के आधार पर ज्ञान गुण तथा क्रिया इन दो रूपों में अभिव्यक्त हुआ है । भाट्टमीमांसा में आत्मा की नित्यज्ञान शक्ति से अभिव्यक्त ज्ञान यद्यपि गुण पदार्थ है तथापि भाट्ट मत में न्याय-वैशेषिक के अनुरूप क्रिया को परिस्पन्दात्मक रूप में ही न मानकर धात्वर्थ मात्र को क्रिया माना गया है। इन्द्रिय तथा अर्थ के सम्बन्ध द्वारा जब आत्मा का बाह्य अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है, उस समय उसमें बाह्यार्थविषयक ज्ञानात्मक परिणाम को गुण के साथ ही क्रियास्विभाव माना गया है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक ही पदार्थ गुण तथा क्रियास्वभाव दोनों रूपों में कैसे सम्भव है ? यह आशङ्का करें तो यह भी समीचीन नहीं है। विशेष परिस्थितियों में एकरूप में स्वीकृत पदार्थ को दूसरे रूप में भी माना जा सकता है। 'यजेत स्वर्गकाम:' यहाँ पर याग को साधन तथा स्वर्ग को साध्य माना गया है। दोनों के इस साध्य-साधनभाव की उपपत्ति के लिए अपूर्व की परिकल्पना की गई है। यह अपूर्व याग की दृष्टि से साध्य तथा स्वर्ग की दृष्टि से साधन-रूप में भी अभिव्यक्त होता है।[२२]

ज्ञान की द्विविधता का सिद्धान्त केवल भाट्टमीमांसा में ही परिलक्षित हुआ हो ऐसी बात नहीं है। अनेक दर्शनसम्प्रदायों में ज्ञान की द्विविधरूपता अभिव्यक्त हुई है। सांख्ययोग में ज्ञान वृत्तिरूप में तथा उससे सर्वथा भिन्न पुरुष के रूप में भी प्रतिपादित किया गया है। अद्वैत-वेदान्त में अन्त:करण की वृत्ति तथा ब्रह्म के रूप में दो प्रकार का निरूपित किया गया है। विशिष्टाद्वैत में पराक् अजड-रूप में 'धर्मभूतज्ञान तथा प्रत्यक् अजड रूप में धर्मीभूत ज्ञान के रूप में ज्ञान पदार्थ का द्वैविध्य स्पष्ट है। अत: भाट्मत में भी गुणरूप में प्रतिपादित ज्ञान की क्रियास्वभावता के प्रतिपादन को असमीचीन नहीं कहा जा सकता।

ज्ञान के द्वैविध्य के साथ ही ज्ञान द्वारा विषय में ज्ञातता की उत्पत्ति तथा उसके बल पर अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान की ग्राह्यता का सिद्धान्त भी भाट्ट सम्प्रदाय का अपना वैशिष्ट्य है। यागात्मक कर्म की सङ्गति ही इस भाट्टाभिमत ज्ञातता-सिद्धान्त का एकमात्र प्रयोजन परिलक्षित होता है। मीमांसा द्वारा विवेच्य याग के द्रव्य तथा देवता ये दो अंश माने गये हैं। इनमें द्रव्यरूप ज्ञान के विषय को क्षणिक विज्ञानवादियों तथा अद्वैतवादियों के अनुरूप ज्ञान का आकार या विवर्त मानने पर इनसे निष्पन्न याग भी अलीक पदार्थ बन जाता है जिसे सर्वोपरि स्थापित करने के लिए मीमांसा प्रवृत्त हुई है। इस याग रूप कर्म में विनियुक्त होने वाले द्रव्य की यथार्थ सत्ता स्थापित करने के लिए ही ज्ञान की ग्राहकता में बाह्य अर्थ-निष्ठ ज्ञातता के सिद्धान्त का तथा ज्ञान के स्वत: प्रामाण्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। ज्ञाततासिद्धान्त के मूल में शून्यवादियों, विज्ञानवादियों तथा अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार विषय को ज्ञान का विवर्त मानने के सिद्धान्त का निराकरण कर जिन व्रीहि आदि द्रव्यों पर कर्मकाण्ड आश्रित है उन बाह्य विषयों की सत्ता स्थापित करने की भावना निहित है। कुमारिल भट्ट ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि — "जिन्हें धर्म की सिद्धि करनी है, उन्हें लोकसम्मत प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा अर्थ (विषय) के सद्भाव तथा असद्भाव पर विचार करते हुए पूर्वपक्ष निराकरणपूर्वक क्रिया कर्मानुष्ठान की सङ्गति के लिए अवश्य प्रयास करना चाहिए।[२३]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रस्तुत वार्तिक की न्यायरत्नाकर व्याख्या में व्याख्याकार पार्थसारथि मिश्र का कहना है कि- "यदि समग्र ज्ञान बाह्यार्थशून्य होंगे तो ऐसी स्थिति में धर्म में वेद प्रमाण हैं अन्य अप्रमाण हैं। इन्द्रिय संयोग से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है इन्द्रिय-संयोग के बिना होने वाला ज्ञान आभासमात्र है। ज्योतिष्टोमादि कर्म पुण्य हैं, ब्रह्महत्यादि कर्म पाप हैं, कुछ कर्म स्वर्गफल वाले हैं, कुछ कर्म अनियत फलवाले हैं, कुछ वृष्टि आदि ऐहिक फल प्रदान करने वाले हैं। पाप-पुण्य के ये भेद, कर्म के विभाग, ये सभी वेदादि को अपने ज्ञान से पृथक् न मानने पर अयुक्त हो जाते हैं अतः जिन्हें धर्म की अभिलाषा है ऐसे पुरुषों के लिए यह आवश्यक है कि वे सुगत (बुद्ध) के आशीर्वादरूपी सिद्धान्त में माहायानिक आदियों के मिले हुए विषरूपी सिद्धान्तों का परामर्श करते हुए लोकसम्मत प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा प्रमाणित बाह्यार्थों का सद्भाव कर्मानुष्ठान की सङ्गति के लिए अवश्य स्वीकार करें।[२४]

कुमारिल भट्ट के वार्तिक तथा इस पर पार्थसारथि मिश्र की उक्त व्याख्या के प्रकाश में भाट्टमीमांसकों द्वारा प्रतिपादित ज्ञातता-सिद्धान्त तथा उसके आधार पर स्थापित स्वतः प्रामाण्यवाद के मूल में निहित वेदार्थ (कर्म) के सङ्गति की इनकी भावनां स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हो जाती है।

एफ २-५/१९ सोमनाथ नेने
विश्वविद्यालय परिसर
उज्जैन (म. प्र.) ४५६०१०

टिप्पणियाँ

१. सर्वञ्च ज्ञानं निराकारमेव, तर्कभाषा, पृ. ५४७, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, १९९०

२. बुद्ध्याद्य षट् मानसप्रत्यक्षाः तर्कभाषा, पृ. ४६९

३. साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षं मेयमातृप्रमासु सा । प्रकरण-पञ्चिका, अमृतकला, पृ. १०४ एवं मेयमात्रवभासरूपा संविदेका । वही, पृ. १७१

४. "न हि अज्ञातेऽर्थे कश्चिद् बुद्धिमुपलभते । ज्ञाते तु अनुमानादवगच्छति।" - शाबरभाष्य अ. १ पा. १, सू. ५, मीमांसा-दर्शनम्, पृ. २७९, भारतीय विद्या -प्रकाशन, वाराणसी, १९७९

५. "ज्ञान स्वांशं नगृह्णाति ज्ञानोत्पत्तेः स्वशक्तिवत् ।" - श्लो. वा. अ. १,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पा. १, सू. ५, शून्यवाद वार्तिक संख्या १७५, मीमांसा दर्शनम् , पृ.२६२

६. नान्यथा ह्यर्थसद्भावो दृष्टः सन्नुपपद्यते ।
ज्ञानं चेन्नेत्यः पश्चात्प्रमाणमुपजायते ।।" - श्लो. वा. अ. १, पा. १, सू. ५, शून्यवाद वा. १८२ मीमांसादर्शनम्, पृ. २६२

७. अथवा ज्ञानक्रियाद्वारको यः कर्तृभूतस्यात्मनः कर्मभूतस्य चार्थस्य परस्परं सम्बन्धो व्याप्तृव्याप्यत्वलक्षणः स मानसप्रत्यक्षावगतो विज्ञानं कल्पयति, नह्यागन्तुककारणमन्तरेणात्मनोऽर्थं प्रति व्याप्तृत्वमुत्पत्तुमर्हति । तच्च कारणं लोके ज्ञानशब्देनाभिधीयते । शास्त्रदीपिका, पृ. ५६, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, १९८८

८. येऽपि स्वप्रकाशां संविदमातिष्ठन्ते तैरप्ययं सम्बन्धो मानसप्रत्यक्षगम्योऽवश्यमभ्युपगमनीयः । अन्यथा 'ज्ञातो मया घटः' इति ज्ञानज्ञेयसम्बन्धो ज्ञातृज्ञेयसम्बन्धो वा न व्यवहर्तुं शक्यते । यन्मात्रं हि प्रकाशितं तन्मात्रमेव व्यवहर्तुं शक्यते नान्यत् । इह च संविन्मात्रं स्वयं प्रकाशितं, अर्थोऽपि तद्वशात्, ज्ञानसम्बन्धसतु केन प्रकाशितः । सोऽपि तयैव संविदा प्रकाशित इति चेत् । न तदुत्पत्त्यवस्थायां सम्बन्धस्यानिष्पन्नत्वात् । प्रकाशकत्वमेव हि संविदा विषयेण – सम्बन्धो नान्यः, तेन जातायां संविदि विषये च प्रकाशिते निष्पद्यमानः सम्बन्धो न तया संविदा शक्यते विषयकर्तुम्, विरम्यव्यापारासंभवात् । न हि प्रथममर्थं प्रकाश्य पुनः सम्बन्धं प्रकाशयितुमर्हति क्षणिकत्वात् । अथ सम्बन्धोऽपि स्वयं प्रकाशत इति मन्येथाः नात्र प्रमाणमस्ति । तस्मान्मानसप्रत्यक्षगम्योऽर्थेन सहात्मनः सम्बन्धो ज्ञानं कल्पयतीति रमणीयम् ।, वही, पृ. ५६

९. अनुमितेऽपि चार्थे, ज्ञातो मयाऽग्निरिति अग्निं ज्ञातमनुसंधत्तेऽस्तत्त्वं वक्तव्यं, ज्ञाने प्रमाणमुच्यते ज्ञानक्रियाजनितो ज्ञातुर्ज्ञेयेन सहाऽऽप्तत्वसंबन्ध.... ।" न्यायरत्नाकर - व्याख्या, मीमांसादर्शनम् पृ. २६३.

१० अर्थगतो वा ज्ञानजनयोऽतिशय. कल्पयति ज्ञानम्, शास्त्रदीपिका, पृ. ५६-५७.

११ स च प्रकाश-पदार्थो घटसमानाधिकरणः । स एव ज्ञानस्य कल्पकः, ज्ञानाच्च भिन्न । तस्य ज्ञानरूपत्वे घटसामानाधिकरण्यमनुपपन्नं स्यात् । ज्ञानं हि आत्मसमवेतमात्मसमानाधिकरणतयैव भासमानं कथं घट समानाधिकरणं स्यात्? अन्य समवेतस्यान्यसमानाधिकरणत्वेऽतिप्रसङ्गात् । शब्दप्रयोगबलादपि ज्ञानप्रकाशयोर्भेदो भवति । 'घटो भाति' इतिवन्न 'घटोजानाति' इति प्रयोगः। 'घटं जानाति' इतिवच्च न 'घटं भाति' इति प्रयोगः । ज्ञान-प्रकाशयोरेकरूपत्वे जानाति-पर्यायाणां भातिपर्यायाणाञ्च साङ्कर्यं भवेत् । न चैतदस्ति । अतश्च

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भानप्रकाश पदार्थो न ज्ञानपदार्थ: । अतिरिक्तश्च प्रकाश-पदार्थ: ज्ञानस्य कल्पक इति सिध्यति । (मीमांसा-दर्शन-विमर्श:, पृ.८६, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७६

१२. सा च संक्षेपतो द्विविधा । अनुभव:स्मरणञ्च । अनुभवोऽपि द्विविधो, यथार्थोऽयथार्थश्चेति । अयथार्थस्तु अर्थव्यभिचारी, अप्रमाणज: । स त्रिविध: । संशयस्तर्को विपर्ययश्चेति ।'' तर्कभाषा, पृ.५४७

१३. प्रकरण-पञ्चिका, पृ.४८ से ६२, काशी-हिन्दु-वि.वि. प्रकाशन, वाराणसी

१४. बुद्धिर्ज्ञानम् । सा द्विधा । अनुभव: स्मृतिश्च । अनुभवोद्विधा यथार्थोऽयथार्थश्च। आद्य:प्रमाणजन्य । सैव प्रमा । मीमांसाकुतूहलम्, पृ. ७२, सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी १९८७

१५. तस्माद् दृढं यदुत्पन्नं नापि संवादमृच्छति ।
ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत् प्रमाणं प्रतीयताम् ।। श्लोकवार्तिक २.८०, मीमांसादर्शनम् भारतीय विद्या-प्रकाशन, वाराणसी, १९७९, पृ. ५३

१६. लक्षणलक्षितो गुण: रूपरसगन्धस्पर्श-संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेह बुद्धिसुखदु:खेच्छा - द्वेष - प्रयत्नसंस्कारध्वनिप्राकट्यशक्तिभेदाच्चतुर्विंशतिविध।'' - मानमेयोदय, पृ. २४०, थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाऊस, अड्यार मद्रास, १९३३

१७. बुद्धिसुखदु:खेच्छाद्वेषप्रयत्ना आत्मविशेषगुणा: । वही, पृ. २४८

१८. बुद्धयादयस्तु विशेषगुणा: । गुणत्वे सत्येकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वाद्, रूपवत् अतो न दिगादिगुणा: । तस्मादेभ्योऽसृभ्यो व्यतिरिक्तोबुद्धयादीनां गुणानामाश्रयो गुणी वक्तव्य: स एवात्मा । तर्कभाषा, पृ. २५७

१९. तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार इष्यते ।
तदेव च प्रमारूपं तद्वती करणं च धी: ।। श्लोकवार्त्तिक, अ.१., पा. १ सू.४, वा. ५६

२०. क्रियास्वभावत्वे तस्य प्रत्यक्षत्वमेव स्यात् न त्वनुमेयत्वम् । उत्क्षेपणादय: क्रियास्सर्वा अपि प्रत्यक्षा: ज्ञानक्रिया परमप्रत्यक्षमिति विभागो न मुक्तिसंगत:। - मीमांसा-दर्शन-विमर्श: पृ.९०

२१. किञ्च यागादिनिष्ठं यत्करणत्वं तदप्यपूर्व-साधनत्वेनैवोपपादनीयम् । यागो व्यापार: कामं भवतु प्रत्यक्ष: किन्तु तत्र विद्यमानमपूर्वसाधनत्वमतीन्द्रियमेव अतएव यागत्वेन यागो न धर्म: किन्त्वपूर्वसाधनत्वमतीन्द्रियमेव अतएव यागत्वेन यागो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

न धर्मः किन्त्वपूर्वसाधनत्वेनैव सो धर्मः । श्रेयस्साधनता ह्येषां नित्यं वेदात्प्रतीयते (श्लो. वा. इति वार्तिककार वदन्ति । एत्रञ्चोत्क्षेपणादीनां क्रियाणां प्रत्यक्षत्वेऽपि काश्चन क्रिया अप्रत्यक्षा अपि स्वकर्तव्या एव । .... । विक्लृत्तिरूपा च क्रिया न प्रत्यक्षेण सिध्यति, किन्तु फलेनौदनेन साऽनुमीयते अत्र स्थालीपुलाकनयायोऽप्यानुकूल्यमावहति । अङ्गुलिभिः पुलाकं स्पृशन्तो लोका वदन्ति विक्लित्तिर्न जाता पक्वमोदनञ्चानुभवन्तो जाता विक्लृत्तिरिति । एवञ्चानुमेया अपि क्रियायास्सत्वात् ज्ञानस्यापि क्रियास्वाभाव्येऽनुमेयत्वमवयाहतमिति । वही, पृ.९१, पंक्ति ६ से २३

२२. 'यजेत स्वर्गकाम' इति वाक्यावबोधितस्य यागस्वर्गयोस्साध्यसाधन-भावस्योपपत्तयेऽर्थापत्तिप्रमाणेन मध्येऽपूर्वं कल्पयते । तच्चापूर्वं साध्यमपि भवति साधनमपि। वही, पृ. ९०, पं. २६ सं. पृ.९१, पं. २

२३. तस्माद्धर्मार्थिभिः पूर्वं प्रमाणैर्लोकसम्मतैः ।
अर्थस्य सदसद्भावे यत्नः कार्यः क्रियां प्रति ।। श्लो. वा. अ. १, पा.१ सू.५ वा.४, मीमांसादर्शनम् पृ. १७९

२४. दृष्टव्य न्यायरत्नाकर व्याख्या, मीमांसादर्शनम्, पृ. १८० पं. ७ से १६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिंदी)

(त्रैमासिक पत्रिका)

दर्शन एवं साहित्य पर वैचारिक चिंतन प्रस्तुत करनेवाली पत्रिका दर्शन, साहित्यशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान के अध्यापक, संशोधक, छात्र एवं प्रेमी पढते हैं ।

विज्ञापन की दरें

१/८ डिमाई साईज	एक अंक के लिए	चार अंको के लिए
	रु.	रु.
१/४ पृष्ठ	१२०/-	४२०/-
१/२ पृष्ठ	२००/-	७००/-
पूर्ण पृष्ठं	४००/-	१४००/-
कव्हर पृष्ठ.३	६००/-	२१००/-
कव्हर पृष्ठ.४	८००/-	२८००/-

आप आपकी संस्था / प्रकाशन / उत्पादन का 'परामर्श (हिं)' में विज्ञापन देकर पत्रिका की मदत कर सकते हैं ।

विज्ञापन की प्रति एवं शुल्क मनीऑर्डर या बँक ड्राफ्ट से निम्नंकित पते पर भेजें -

प्रधान संपादक,
परामर्श (हिंदी)
दर्शन-विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे ४११००७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शांकरदर्शन में मानव व्यक्ति का महत्त्व

भारतीय समाज का पारम्परिक जीवन-मूल्य मूलत: आध्यात्मिकता पर ही अधिष्ठित रहा है तथापि भौतिकता का अनिवार्यत: पूर्ण निषेध समाज में कभी स्वीकृत नहीं रहा। फिर, जब जीवन के प्रति दृष्टिकोण की चर्चा हो तो, आध्यात्मिकता और भौतिकता का अनिवार्य सह-सम्बन्ध भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। इस पर भी समाज-मानसिकता से पृथक् व्यक्तियों द्वारा दार्शनिक चिन्तन की प्रक्रिया में ऐसी दर्शन परम्पराएँ मुखर हुई हैं जो भौतिकता का सत्ता और मूल्य, दोनों ही प्रकार से निषेध करती हैं। शांकर दर्शन भी उनमें से एक है। लेकिन शांकर दर्शन की जिस विशेषता पर हम यहाँ विचार करना चाहते हैं वह दार्शनिक दृष्टि से भौतिकता का आध्यात्मिक निषेध मात्र नहीं वरन् निषेधात्मक आध्यात्मिक की सहज परिणति के रूप में प्राप्त जीवन दृष्टि है जिसे हम 'नियतिवाद' मानते हैं। या फिर यह कहा जा सकता है कि हमने शांकर दर्शन को नियतिवादी दृष्टि से समझने का प्रयास किया है।

शांकरदर्शन में व्यक्ति स्वरूपत: ब्रह्म ही है। साक्षीरूप व्यक्ति ब्रह्म या शुद्ध चैतन्य है। सुख-दु:खादि द्वन्द्वों से मुक्त संसार से निर्लिप्त एवं तटस्थ द्रष्टारूप व्यक्ति 'प्रतीत- व्यक्ति' ब्रह्मत्व की अभिव्यक्ति है। जन्म-मृत्यु सुख-दुखादि में लिप्त अहंभाव युक्त व्यक्ति प्रतीति मात्र है। ब्रह्म ही सत् है, अद्वैत है। अत: ब्रह्म या शुद्धचैतन्य से अन्यथा प्रतीत जो कुछ भी है — सब अन्त:करण के कारण प्रतीति है। इस प्रतीति को सत्यासत्य की कोटियों में रखा नहीं जा सकता। यह इसकी विलक्षणता है। इसी से इसे मिथ्या कहा जाता है। सृष्टिकर्ता कौन है, सृष्टि क्यों हुई या सृष्टिकर्ता कोई है भी या नहीं; आदि प्रश्न व्यर्थ हैं क्योंकि इनके उत्तर एक ऐसे उत्तरदाता की अपेक्षा रखते हैं जो स्वयं सृष्टि से पूर्व और परे हो। जहाँ तक दार्शनिक जिज्ञासा का संबंध है, अपनी पूर्वमान्यताओं के अनुरूप कोई भी संतोषजनक उत्तर स्वीकार कर सकते हैं, लेकिन यह संतोष, उत्तरों की संगतता के कारण नहीं बल्कि बुद्धि की क्षमता की सीमा के कारण होगा। लेकिन शांकर-वेदान्त के लिए ये प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं-केवल परम्परा का निर्वहण और मोक्ष-शास्त्र की पृष्ठभूमि मात्र है। शांकरवेदान्त का संबंध व्यक्ति के जीवन में मृत्यु-भय, दु:ख और अतृप्ति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से भरे अनवरत संघर्ष से मुक्ति हेतु मार्ग-प्रशस्ति से है । समस्त बौद्धिक ज्ञान, अहंकारजन्य व्यवहार, शांकरवेदान्त की दृष्टि में अविद्याजन्य है । विद्या ब्रह्मज्ञान को माना गया है और ब्रह्म बुद्धि से अचिंत्य है । अत: अविद्या का अर्थ बौद्धिक ज्ञान ही होगा । मुक्ति, चूँकि ब्रह्मसाक्षात्कार है, अत: अविद्यानाश या, मुक्त होना ही जीवन में व्यक्ति का एक मात्र साध्य है ।

शांकरवेदान्त का जो स्वरूप हमने स्वीकार किया है तदनुसार ब्रह्म ही सत् है, सब कुछ ब्रह्म ही है, शेष सब जो ब्रह्म से अन्य प्रतीत होता है — मिथ्या है, व्यर्थ है । इस स्वीकृत अर्थ में शांकरवेदान्त में व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है क्योंकि इसमें व्यक्तिगतता को भी मिथ्या माना गया है । अत: ऐसा सिद्धांत व्यक्ति को कोई संतोषजनक स्थान नहीं प्रदान करता है, जबकि व्यक्ति निर्गुण और उदासीन न होकर क्रियाशील और सृजनशील है न कि माया के हाथों नाचने वाला असहाय प्राणि ।

मानव, जगत् में अपने महत्त्व प्रतिपादन हेतु बडा ही सजग रहता है और यह सजगता केवल अहंकारवश ही होती है । प्राय: यह मान लिया जाता है कि जगत् में 'मानव व्यक्ति' विशेष महत्त्व रखता है, उसमें रचनात्मकता अथवा सृजनशीलता है। मान्य उपलब्धियों के आधार पर यह माना जाता है कि व्यक्ति में स्वतंत्रत: अपने अस्तित्व को बनाये रखने और विभिन्न प्रतीकों में स्वयं को अभिव्यक्त करने की क्षमता है । प्रमाणस्वरूप मानव समाज का इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है । प्राय: मानव व्यक्ति के महत्त्व प्रतिपादन में मानवाहंकार ने युगों से अनेक प्रयास किये हैं और ऐसे शब्दों का निर्माण किया है जिनसे उसके अहंकार की अभिव्यक्ति होती है । प्रगति, विकास, उच्च, निम्न आदि भावनाएँ आज संस्कारों के रूप में प्राप्त हो रही हैं और स्थिति यह है कि मानव की धारणाएँ, मान्यताएँ और उसके शब्द सभी अर्थवान् हैं, स्वीकृत हैं । इनके मिथ्यात्व को स्पष्ट करने हेतु वे ही शब्द हैं। सदियों से चली आ रही मानवाहंकारजन्य निर्धारित और स्वीकृत भ्रान्त विश्वासों का निराकरण कठिन है ।

मानव व्यक्ति का महत्त्व निर्धारण मानवाहंकारजन्य व्यामोह का परिणाम है । इससे किसी शाश्वत मूल्य की प्राप्ति संभव नहीं है । लेकिन मूल्य की शाश्वतता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । जब तक, व्यक्ति सीमित है, अहंकारयुक्त है, शाश्वतता की खोज से स्वयं को वह मुक्त नहीं रख सकता है । यह उसकी नियति है । "सहज में चेतना अपने को अविद्या और भव में ही पाती है वही उसका उपलब्ध रूप भी है किंतु साथ ही वह इस उपलब्ध रूप से मुक्त होने को प्रयत्नशील

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी रहती है ।"[१] व्यक्ति को अतिक्रमण की प्रेरणा मिलती है शाश्वत होने की इच्छा से लेकिन कर्मों से प्राप्त फल उसे शाश्वतता की ओर नहीं ले जाते । कर्म, अविद्या या अज्ञानप्रेरित है । कर्मक्षेत्र जहाँ अविद्या का क्षेत्र है वहीं मोक्ष उससे निवृत्ति है । अत: मोक्ष-प्राप्ति के लिए सीमाओं से परे जाना होगा, अहंकार और व्यक्तित्व से परे जाना होगा । व्यक्तित्व का नाश किये बिना स्वरूप को जाना नहीं जा सकता । संभवत: इसीलिए मोक्ष को प्रेयस् न कहकर श्रेयस् कहा गया है। श्रेयस् का चयन करने के लिए व्यक्ति बाध्य है । अज्ञानवश प्रेयस् समझकर ही वह उनका चयन करता है जो प्रिय तो है किन्तु उनका महत्त्व क्षणिक् और अपूर्ण है । अहंबोध, कर्तव्य और अपनी श्रेष्ठता को जब तक व्यक्ति स्वीकार किए रहता है, तब तक वह भेद और अनेकता में सापेक्ष व्यक्तित्व ही निर्मित कर पाता है । व्यवहार में वह अपनी संकीर्णताओं से मुक्त नहीं हो सकता है । अधिक से अधिक एक प्रकार की संकीर्णता से निकलकर अन्य किसी प्रकार की संकीर्णता में फँस सकता है । स्वरूपत: व्यक्ति शुद्धचिन्मय ब्रह्म ही है । शरीर आदि उपाधियों के कारण स्वयं को मनुष्य बुद्धिमान, कर्ता-भोक्ता, आदि अर्थों में समझता और व्यक्ति होता है । इस तरह व्यक्त होना व्यक्ति है । अविद्या नष्ट होते ही वह निष्काम, अकर्ता-साक्षी ही रह जाता है । बुद्धिजीवी, मूर्ख, कर्मठ और पापी आदि सभी सापेक्ष मान्यताएँ हैं, व्यक्तित्व के रूप हैं जो अहंकार के बाह्य विषयों के संबंध से निर्मित होते हैं । व्यक्ति का मानव रूप अविद्याजन्य भेद-दृष्टि से उत्पन्न प्रतीति है । व्यक्ति का निर्माण होता है कर्म से । कर्म अविद्याजन्य है, अविद्या बन्ध की जननी है । अत: व्यक्तित्व ही व्यक्ति का बंधन है ।

शांकरदर्शन में व्यक्ति के महत्त्व हमने दो अर्थों में समझने का प्रयास किया है। प्रथमत: शांकरदर्शन में व्यक्ति को कितना महत्त्व दिया गया है और द्वितीयत: इसमें व्यक्ति के स्वीकृत स्वरूप का जगत् में क्या महत्त्व है । प्रथम अर्थ में यही कहा जा सकता है कि शांकरदर्शन केवल व्यक्ति का ही दर्शन है । यह मान लेना कि वह मायावाद या ब्रह्मवाद ही है, व्यक्ति की चर्चा प्रसंगवश और गौण है, उचित नहीं है। ब्रह्म, ईश्वर, जगत्, माया और अविद्या आदि धारणाएँ केवल व्यक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये ही प्रस्तुत हुई हैं । ब्रह्मवाद या मायावाद उक्त दर्शन में परमतत्त्व के स्वरूप और उससे उत्पन्न जगत् के स्वरूप के आधार पर दी गई उपमाएँ हैं । हमारे विचार से किसी भी दर्शन को किसी वाद में बाँधा जाए यह उस दर्शन के उद्देश्य पर निर्भर होना चाहिए । शांकर वेदान्त का लक्ष्य ब्रह्म की संख्या या ब्रह्म का तार्किक निरूपण अथवा जगत् की खोज करना नहीं बल्कि जगत् में व्यक्ति को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समस्याओं का मूलभूत कारण- उसका बंधन दूर करना ही है । इसके लिए व्यक्ति के बौद्धिक और आनुभविक पक्षों का विश्लेषण करते हुए व्यक्ति के वास्तविक स्वरूप की खोज की गई है । इस तरह खोज के पश्चात् व्यक्ति, जिसे व्यवहार में सुख-दुखादि में फँसा हुआ माना जाता है, को पूर्ण आप्तकाम और निरपेक्ष सत्ता के रूप में उपलब्ध कराया जाता है । इसे हम व्यक्तिवाद कहते हैं क्योंकि इस दर्शन में आरंभ से अंत तक व्यक्ति ही प्रधान है । जगन्मिथ्यात्व प्रतिपादन का उद्देश्य है मिथ्यात्व या असारत्व के ज्ञाता रूप व्यक्ति की सत्ता को निरूपित करना, 'जीव मिथ्यात्व' का उद्देश्य यह बताना है कि स्वरूपत: व्यक्ति संसार-चक्र में अनवरत संघर्षरत सीमित प्राणिमात्र नहीं वरन् सीमितता, जीवात्मा मात्र प्रतीति है, व्यक्ति वास्तव में चिन्मयानन्द है । ब्रह्म की चर्चा का उद्देश्य किसी तत्त्वमीमांसा का निर्माण करना या बुद्धिविलास मात्र नहीं है, बल्कि यह दर्शाना है कि व्यक्ति जीवनभर जिसे पाने के लिए व्याकुल रहता है, निरंतर संघर्ष करता है, वह उसका ही स्वरूप है जो शाश्वत है जिसे पाने के उपरान्त अन्य कुछ भी पाने योग्य नहीं रहा जाता है । समस्त इच्छाओं की पूर्णता के साथ व्यक्ति के अतिक्रमण का विराम हो जाता है । व्यक्ति का मुक्त स्वरूप अपने आप में स्तर या प्राकारिक भेद से परे होता है, लेकिन उसका जीवन बद्ध व्यक्ति के लिए आदर्श होता है यही उसका महत्त्व है। जगत् में मुक्त व्यक्ति का स्थान बद्ध व्यक्ति की अपेक्षा से और बद्ध व्यक्ति की दृष्टि में ही है ।

महत्त्व-विचार की द्वितीय दृष्टि अर्थात् प्रतीत मानव के महत्त्व की दृष्टि से प्राय: अन्य अद्वैतेतर वेदान्तों के विशेष मतभेद नहीं है । मानव के महत्त्व-निर्धारण में या तत्संबंधी विचार करते समय जिस बात का विशेष आग्रह प्राय: विद्वानों में पाया जाता है, वह है स्वातंत्र्य । जगत् में मानवेतर प्राणियों की अपेक्षा मानव को, विशिष्ट श्रेष्ठ इसीलिए माना जाता है कि वह बुद्धिमान् है, केवल मूल प्रवृत्तियों से नियंत्रित न हो कर विवेक के प्रयोग में स्वतंत्र होता है । कर्म-स्वातंत्र्य प्राय: अनेक दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत मत है । ऐसे समस्त दर्शन-सम्प्रदाय जो मानव के कर्तव्य को स्वाभाविक स्वीकार करते हैं - स्वतंत्रता और परतंत्रता पर विचार कर सकते हैं और यह असंगत भी नहीं होगा, लेकिन शांकरदर्शन में अविद्याजन्य जीव में स्वतंत्रता या परतंत्रता को मानना असंगत प्रतीत होता है ।

आचार्य शंकर जीव को स्वतंत्र कर्ता मानते हैं । उनके अनुसार यदि जीव स्वतंत्र कर्ता नहीं है तब शास्त्रों के उपदेश व्यर्थ सिद्ध होंगे । अत: जीव को स्वतंत्र स्वीकार करना पडता है ।[२] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य में वे कहते हैं कि पुरुष यथारुचि कार्य करते हैं ।[३] लेकिन यह कहकर कि जीव के कर्म ईश्वर ही करता है,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ईश्वर नियंतृत्व और जीव के कर्तृत्व को भी मिथ्या और अविद्याजन्य कहकर वे असंगति से स्वयं को मुक्त कर लेते हैं। उनके अनुसार जीव अविद्याजन्य होने से कर्म करने को विवश है। जब तक अविद्याग्रस्तता है तब तक जीव परतंत्र है। परतंत्रता में वह अहंकारवश स्वतंत्रता की कल्पना कर लेता है। जब ऐसी स्थिति है निःसंकोच भाव से स्वतंत्रता को अस्वीकार क्यों न कर दिया जाय? क्या वास्तव में अपनी श्रेष्ठता की अहंभावजन्य मान्यता ही इस स्वीकृति में अवरोध नहीं है? यहाँ हम मध्व के कथन को सर्वथा उचित मानते हैं कि "उसे स्वातंत्र्य की जो प्रतीति होती है वह बुद्धिकृत मोह के कारण है।"[४]

स्वतंत्र शब्द का अर्थ होगा स्व के तंत्र में आवद्ध। यद्यपि महत्त्व शाब्दिक अर्थ के बजाय व्यवहृत अर्थ का होता है, तथापि इस शब्द के अर्थ की सुनिश्चितता न होने से 'स्व के तंत्र में आबद्धता' से ही प्रारंभ करना हमें उचित प्रतीत हुआ। तंत्र शब्द यहाँ व्यवस्था के अर्थ में स्वीकार किया गया है और हमारे विचार से इसमें अधिक विवाद के लिए स्थान नहीं। विवाद है तो केवल स्व के अर्थ पर। "स्व" जिसके तंत्र या व्यवस्था में आबद्धता अभिप्रेत है, का व्यवहार जडचेतनयुक्त प्राणि द्वारा किया जाता है 'मैं' के रूप में। सामान्य व्यवहार में इसी अर्थ में स्वतंत्रता शब्द की सार्थकता है। इच्छा-स्वातंत्र्य आदि प्रयोग ही प्रायः स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति के माध्यम होते हैं। 'मैं' के जिस अर्थ में "मैं दुखी हूँ, कर्ता हूँ, मोटा हूँ, विचार करता हूँ, जानता हूँ" आदि प्रयोग होते हैं उसी अर्थ मे प्रायः 'स्व' को स्वीकार किया जाता है। स्वतंत्रता के अर्थ को समझने के लिए इन्हीं अर्थों में स्व को स्वीकार करना होगा।

क्या यह स्व कोई वस्तु है जिसे हम जानते हों या कोई सत्ता है जो किसी व्यवस्था का निर्माण करता है? हमारे विचार से स्व न कोई वस्तु है और न ही कोई सत्ता। स्व अपनी अभिव्यक्ति हेतु पूर्णतः शरीर पर आश्रित होता है। ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती है जिसमें स्व हो, पर शरीर न हो। इसका कारण यह है कि स्व शरीर, अन्तःकरण और चैतन्य का मिथुनीकृत हमारी अन्य जड प्रतीतियों की भाँति एक प्रतीति है। लेकिन स्व के तंत्र को या व्यवस्था को अभिव्यक्त करने का एकमात्र माध्यम भी वही है। शरीर परिवर्तनशील, नाशवान् और प्रतीत जगत् का ही एक अंश है। उसी की सीमाएँ जगत् के साथ बँधी हुई हैं। अतः स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति इसी बंधन चेतना के जगद्भाव की सीमा में होगी। डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं - मानवीय स्व विश्व की प्रक्रिया का एक उद्बुद्ध पहलू है। यह स्वयं इस प्रक्रिया से भिन्न कोई द्रव्य नहीं है। - मानवीय स्व विभिन्न भागों से बनी हुई स्वीकृत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रचना है। मानवीय स्व का यह उद्‌बोधन मानवकृत नहीं बल्कि विश्व-प्रक्रिया का ही उद्‌बोधन है।"[५] इसमें मानव के लिए गर्व करने का कोई कारण नहीं। जिस तरह एक पत्थर का अचेष्ट रहना विश्व-प्रक्रिया का एक प्रतीत तथ्य है उसी तरह मानव का सचेष्ट होना भी प्रक्रिया का एक तथ्य है। लेकिन यह भेद किसी तरह मानवीय स्व के श्रेष्ठता का परिचायक नहीं है। यह तो अहंकार है जो इसे श्रेष्ठ समझता है। शांकर दर्शन में स्व, 'मैं' या साक्षी को अकर्ता, अभोक्ता माना जाता है। प्रमातृत्व को ही स्व या 'मैं' मान लेना अविद्यावश चैतन्य पर अन्त:करण का अध्यारोपण है। अत: स्वतंत्रता मात्र अविद्याजन्य ही होगी, सत्य नहीं। अविद्या शांकरदर्शन में एक ऐसा ब्रह्मास्त्र है जिसके द्वारा हर मूल प्रश्न से पलायन किया जा सकता है। ब्रह्म निर्गुण है तब उसकी प्रतीति अन्यथा रूप में क्यों होती है, किसे होती है आदि प्रश्नों का उत्तर है अविद्या। यह वास्तव में प्रश्न का उत्तर नहीं है। जीव अविद्या की उत्पत्ति है अत: उसे अविद्या के लिए उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म निर्गुण है अत: उसमें अविद्या अकल्पनीय है। अविद्या के विषय में उठाई जाने वाली शंकाएँ अविद्याजन्य हैं। जब तक अविद्या है तब तक इन प्रश्नों का उत्तर समझ में नहीं आता है और अविद्या निवृत्ति हो जाय तो प्रश्न ही नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में स्वतंत्रता-परतंत्रता जैसे शब्द व्यर्थ की कल्पनाएँ होंगी। जीव दशा में सम्पन्न समस्त व्यवहार अविद्या कल्पित है। स्वयं जीव भी अविद्या कल्पित है। अत: जीव का स्वयं को स्वतंत्र समझना अविद्या कल्पित मात्र या ब्रह्म की लीला मात्र है।

जिस तरह स्वतंत्रता की अवधारणा प्रमाता और साक्षी दोनों के लिए व्यर्थ और असंगत है, उसी तरह परतंत्रता की अवधारणा भी असंगत है। परतंत्रता तब संगत होती है जब व्यक्ति से परे या अन्य कोई व्यक्ति वस्तु या सत्ता होती है जो उसके कर्म, इच्छा आदि पर नियंत्रण रखती हो। सृष्टि का एक अंग जिस तरह व्यक्ति है उसी तरह सृष्टि का हर वह पक्ष जिसके अधीन या जिससे स्वयं को संबधित मानता समझता है - भी सृष्टि का ही अंश है। किसी पूर्ण का एक अंश, किसी अन्य अंश के अधीन नहीं होता है। सृष्टि में ऐसा कुछ भी नहीं है जो उसका अंश न हो और जिसका व्यक्ति पर आधिपत्य हो। सृष्टि स्वयं में एक सत्ता नहीं है, बल्कि सत् की अभिव्यक्ति है और यह अभिव्यक्ति भी प्रतीति है। इसी तरह सृष्टि को जानने का प्रयास करने वाला व्यक्ति भी प्रतीत अभिव्यक्ति है। शांकरवेदान्त के अनुसार सब कुछ ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति में जितना महत्त्व पत्थर, वृक्ष, पशु आदि का है; उतना ही महत्त्व मानव का भी है। शंकर तो बडे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साहस के साथ स्वीकार करते हैं कि "समान: पश्वादिर्भि: पुरुषाणां प्रमाण प्रमेय व्यवहार:" (शां.भा. उपोद्घात्)। व्यापक अर्थ में व्यक्ति एक सत्ता नहीं, व्यक्त होने की प्रक्रिया है । व्यक्ति के प्रति अहंकार भी अभिव्यक्ति ही है । समस्त प्रतीत अभिव्यक्तियों का आधारभूत तत्त्व शाश्वत होने से मानव व्यक्ति का अहंकार भी शाश्वत प्रतीत होता है । संभवत: यही कारण है कि वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदाय जीव को अज मानते हैं । हमारे विचार से जीव मिथ्या होने से उसका 'आदि' विषयक ज्ञान संभव नहीं होता है । आदि के इस अगम्यता की स्वीकृति ही अनादि मानने की अपेक्षा संगत होगी । जिस तरह सृष्टि अचिंत्य है, उसी तरह व्यक्ति या जीव भी अचिंत्य है । सृष्टि में वस्तुत: मैं और मेरा या अस्मद् युष्मद् का प्रश्न असंगत है । सभी कुछ ब्रह्म की ही व्यक्ति होने से व्यक्ति में से एक स्वयं को अलग समझे और किसी को मेरा कहें, इसके लिए स्थान नहीं है । लेकिन अविद्याजन्य अहंकारवश ऐसा माना जाता है । जिस तरह मैं-मेरा के लिए स्थान नहीं है फिर भी माना जाता है इसी तरह अविद्या और उसके आश्रय के लिए भी स्थान नहीं है । फिर भी अहंकारवश जीव की अविद्या कही जाती है । अभिप्राय यह है कि जो कुछ बुद्धि जान पाती है उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जिस आधार पर किसी को श्रेष्ठ, किसी को निम्न अथवा शासक और शासित कहा जा सके । सब अविद्यावश प्रतीति है । प्रतीति के रूप में मानव, और अजीव पदार्थों में कोई स्तर-भेद नहीं है । अहंकारवश मानव उनसे अपने संबंधों को अर्थ देता है । यह भी अज्ञानवश ही होता है । जगत् परिवर्तनशील है, मानव में परिवर्तन हो रहें हैं । मानव भाषा में कुछ परिवर्तन कर्म कहलाते हैं, कुछ इच्छा और कुछ विकास । ये शब्द मानव प्रदत्त हैं । इसी तरह संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि मानवेतर प्राणियों की भाषा में भी ऐसे ही कुछ संकेत होंगे । मानवाहंकार जिन परिवर्तनों को स्वयं से जोड लेता है, उन्हें वह अपना कर्म या भोग समझ लेता है, लेकिन कर्म, कर्ता, भोग, भोग्य आदि सभी भेद अविद्याजन्य होने से उसका व्यवहार न तो उसकी स्वतंत्रता है, न ही परतंत्रता । यह मात्र विश्व की प्रतीत-प्रक्रिया का सहज रूप है । विश्व की इस प्रक्रिया का एक अंतिम स्थल या विराम जिसे पूर्णता कह सकते हैं - तो हो सकता है, लेकिन प्रक्रिया के अर्थों में स्वतंत्रता या परतंत्रता संभव नहीं ।

व्यक्ति के समस्त व्यापारों का लक्ष्य है शाश्वत होना । यही उसकी नियति है। शाश्वतता की ओर उन्मुखता को हम नियति इसलिए कहते हैं क्योंकि शाश्वतता व्यक्तित्व निर्मित या अर्जित लक्ष्य नहीं वरन् व्यक्ति से परे ब्रह्मत्व का लक्षण है । इसे स्वीकार करने या न करने का विकल्प नहीं है । जबकि स्वतंत्रता की अवधारणा के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मूल में तंत्रों के विकल्पों की अनिवार्यता निहित है। इस दृष्टि से व्यक्ति अपने जीवन में न कहीं स्वतंत्र है और न कहीं परतंत्र। सहज रूप से व्यक्ति अपने शाश्वत स्वरूप को पाने का प्रयास करता है। जो व्यक्ति इस सत्य को जान लेता है वह फिर केवल तटस्थ होकर परिवर्तन का द्रष्टा बन जाता है लेकिन अज्ञानवश जो यह नहीं जानता है वह अपने व्यापार का तात्कालिक लक्ष्य मानकर लक्ष्यों की अनेकता में स्वयं को जकडा हुआ अनुभव करता है, यही बंधन है। तो, बंधन केवल व्यक्ति के अज्ञान के कारण ही प्रतीत होता है। वास्तव में बंधन तो कभी होता ही नहीं, व्यक्ति नित्यमुक्त है।

व्यक्ति अज्ञान और आत्मविस्मृति के कारण ही सहज रूप से होने वाले कार्यों को अपनी विवशता मान लेता है। प्रतीत तात्कालिक लक्ष्यों में भटकते हुए व्यक्ति वांछित परिणाम न पाकर भाग्य, ईश्वरकृपा आदि धारणाओं का पोषण करने लगता है। यद्यपि जो कुछ होता है वह केवल इसीलिए होता है क्योंकि उसे होना था, लेकिन उस 'होनी' से अपने संबंध को न समझ पाने के कारण और अपनी सीमित क्षमता के कारण यह उन्हें आकस्मिक मान लेता है, तथापि आकस्मिक कुछ भी नहीं होता है। सृष्टि की इस सहज प्रक्रिया में सब कुछ सहज भाव से ही होता है। लेकिन चूंकि अपनी वास्तविकता का ही व्यक्ति को ज्ञान नहीं रहता है, अतः सहजता में भी उसे आकस्मिकता दिखाई पडती है। सृष्टि की कुछ घटनाओं को जिन्हें वह स्वयं से नहीं जोड पाता है, व्यक्ति आकस्मिक मान लेता है, यथा सृष्टि की घटना। वास्तव में सृष्टि हुई या नहीं, और हुई भी तो क्यों हुई, कैसे हुई ये सभी व्यर्थ के प्रश्न हैं। लेकिन इनके उत्तर तरह-तरह से दिए जाते हैं। अद्वैतवेदान्तपरम्परा यह मानती है कि यह प्रतीत सृष्टि ईश्वर की माया है, लीला है। ऐसा ही ईश्वरवादी अन्य सम्प्रदाय भी मानते हैं। यदि हम इन समाधानों की गहराई में विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ये केवल आकस्मिकता की स्वीकृति-सूत्रक ही हैं। जगत् में प्रतीत विषमता अविद्याजन्य व्यक्ति को आकस्मिक और निष्प्रयोजन ही प्रतीत होंगी। लेकिन बुद्धिजीवी होने के कारण अहंकारवश आकस्मिकता और प्रयोजनहीनता को स्वीकार करना व्यक्ति के लिए कठिन होता है। साथ ही प्रयोजन और कारण को जान पाना बुद्धि के लिए संभव नहीं। अतः लीला, माया आदि शब्दों द्वारा और बौद्धिक संतोष प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। लेकिन निरीश्वरवादी लीला या माया जैसे शब्दों के बजाय आकस्मिकता को ही स्वीकार कर सकता है, जिसका स्वाभाविक परिणाम चार्वाक की तरह भौतिकवादी, या आजीवकों की तरह कठोर नियतिवादी दर्शन के रूप में होता है। आकस्मिकता वास्तव में एक ही बात का संकेत करती

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है कि बुद्धि सीमित है। लेकिन मानवाहंकारवश अपनी सीमितता को परोक्ष रूप से ही स्वीकार किया जाता है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण में हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि जिस या जिन कारणों से माया, लीला या आकस्मिकता को स्वीकार किया जाता है वे ही कारण नियति की स्वीकृति में भी हैं। आजीवकों का दर्शन कठोर नियतिवाद माना जाता है साथ ही इसे मृतप्राय दर्शन माना जाता है। हमारे विचार से नियतिवाद के प्रति हेयदृष्टि का कारण है मानवाहंकार। स्वयं को कर्ता और भोक्ता मानने वाला मानव स्वयं को मूर्ख कहा जाना सहन नहीं करेगा, जब कि आजीवक स्पष्टरूप से कहते हैं कि स्वयं को अपने दुखों का उत्तरदायी समझने वाला मूर्ख है, बुद्धिमान् स्वयं को अपने दुखों का कारण नहीं मानते।[६] यह एक कटु सत्य है। कर्म सिद्धांत यह तो कह देता है कि अपने कर्मों के अनुसार ही फल मिलता है लेकिन यह तो केवल मध्य की स्थिति है। सृष्टि आरंभ से ही विषम रही है। जिसके लिए मानव स्वयं जिम्मेदार नहीं कहा जा सकता। जन्म-जन्मान्तर की अनंत श्रृंखला ही क्यों न मानें, लेकिन यह प्रश्न तो फिर भी बना ही रहता है कि क्यों मनुष्य जान बूझकर दुःखद स्थिति को निमंत्रण देता है। ईश्वरवादी के लिए सृष्टिकर्ता ईश्वर है ही, साथ ही नियन्ता भी है। अपने जन्म के लिए मनुष्य अंतिम रूप के कारण मानता है। तब अज्ञानियों की सृष्टि ही क्यों हुई। ऐसे मूल प्रश्न का ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई उत्तर नहीं देता है। वे यद्यपि मानव कर्तृत्व के स्वातंत्र्य को स्वीकार करते हैं तथापि अंतिम कारण या उत्तरदायित्व ईश्वर पर ही डाल देते हैं। आचार्य शंकर भी इसके अपवाद नहीं हैं। शां. भा. २.३, ४१-४२ में वे 'प्रेरक' और 'कर्ता' का भेद कर प्रेरक के रूप में ईश्वर को स्थान देते हैं। श्रुतिप्रमाण देकर वे एक ओर ईश्वराधीन कर्तृत्व निरूपित करते हैं तो दूसरी ओर जीव की अत्यन्त परतंत्रता मानने को भी असंगत ठहराते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वराधीनता और मानवाहं दोनों को स्वीकार करने की कोई विवशता हो।

आजीवक भी यही कहते हैं। उनके अनुसार यद्यपि व्यावहारिक धरातल पर यह माना जाता है कि व्यक्ति के कर्म उसके भविष्य का निर्धारण करते हैं तथापि पारमार्थिक रूप से नियति ही जिम्मेदार हैं।[७] अर्थात् व्यक्ति में जब तक अहंकार है तब तक वह यही समझता है कि उसके कर्म ही उत्तरदायी हैं, लेकिन वास्तविकता ऐसी नहीं है। शांकरवेदान्ती भी यही मानते हैं कि कर्तृत्वादि अविद्याजन्य उपाधिवश उत्पन्न व्यवहार है, मिथ्या है। इसमें भी यही प्रतिध्वनित होता है कि अंतिम रूप से व्यक्ति के दुखों का कारण अविद्या है, जिसका कारण कम से कम स्वयं मनुष्य या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जीव तो नहीं है। व्यक्ति स्वरूपत: नित्यमुक्तचैतन्य है। वह क्यों और कैसे विद्याग्रस्त होता है इस प्रश्न का उत्तर ही अंततः व्यक्ति का या सृष्टि का कारण होगा जो व्यक्ति के दुखों का उत्तरदायी होगा और वह कारण कम से कम दुखों में जकडा हुआ बद्धजीव या कर्ता व्यक्ति तो नहीं है। उस कारण को 'माया' कहकर क्या शब्द-भेद से नियतिवाद का ही समर्थन नहीं किया गया ? सृष्टि चाहे मिथ्या-प्रतीति हो, इस प्रतीति का जिम्मेदार तो मनुष्य नहीं है। फिर भला मिथ्याबंधन का उत्तरदायित्व व्यक्ति पर क्यों ? जिस मूल अज्ञान के कारण व्यक्ति बंधन का अनुभव करता है- वह अज्ञान व्यक्ति-निर्मित नहीं है। फिर कब व्यक्ति को जगन्मिथ्यात्व का ज्ञान होगा ? कब वह शास्त्रों का वास्तविक अर्थ समझ कर मोक्षहेतु प्रवृत्त होगा ? और कब मुक्त होगा ? वह सब मात्र जीवन के घटना क्रम के संदर्भ में संयोग या आकस्मिक ही तो हैं जिन्हें 'ईश्वर-कृपा' नाम दिया जाता है। सामान्य जीवन में भी हर वह कथित उपलब्धि जिसे मानवीय उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया जाता है, मात्र संयोग या आकस्मिक ही तो है। जब जो होना है, वह होगा। 'क्यों' का इस संदर्भ में कोई अंतिम उत्तर यदि कोई हो सकता है तो वह है 'नियति'। इसी को ईश्वर कहें, भाग्य कहें या जो भी शब्द उचित जान पडता हो कह लें, परन्तु वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं आता।

नियतिवाद का सीधा संबंध व्यक्ति के कर्ता, भोक्तारूप व्यक्तित्व के स्थान और महत्त्व से है। शंकर के अनुसार व्यक्ति का यह रूप मिथ्या अविद्याजन्य है। स्पष्ट है नियति अविद्या के अर्थ में ही होगी। नियतिवाद की स्वीकृति उसीलिए होती है, क्योंकि व्यक्ति स्वयं को कर्तारूप में परिभाषित करना चाहता है जिसमें उसे सफलता नहीं मिलती है। फलस्वरूप वह एक सीमा में स्वतंत्र कर्ता बन जाता है। लेकिन यह कर्तापन केवल अहंकारजन्य ही है। वास्तव में वह अकर्ता, द्रष्टा मात्र है। अत: सीमित स्वतंत्रता और अधीनता दोनों ही अज्ञानवश हैं। जब तक व्यक्ति अविद्याग्रस्त है तब तक ही नियतिवाद व्यक्ति को स्वीकार करना होगा। अविद्या निवृत्ति के उपरांत विनष्ट अविद्या किस की थी ? यह प्रश्न ही नहीं रहेगा और तब व्यक्ति चूँकि ब्रह्मभाव को प्राप्त हो चुका होगा, नियति भी अपना अर्थ खो चुकेगी। शांकर-वेदांत के अनुसार ब्रह्म सच्चिदानंद स्वरूप नित्य, निर्गुण, अविकारी शुद्धचैतन्य ही है। केवल ब्रह्म ही सत् है। ब्रह्म से अन्य प्रतीत जो भी है सब मिथ्या है। ब्रह्म क्यों माया से युक्त प्रतीत होता है ? क्यों सृष्टि की प्रतीति होती है ? किसे प्रतीति होती है ? आदि प्रश्नों का अंततः एक ही उत्तर है -सृष्टि होनी थी, सो हुई। बस इस उत्तर को लीला, माया या नियति कुछ भी कह सकते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक प्रक्रिया के रूप में, समष्टि के रूप में सृष्टि का न तो कोई प्रयोजन है, न वह प्रयोजनशून्य है। सृष्टि में व्यक्ति न तो महत्त्वपूर्ण है न महत्त्वहीन है, न उसके जीवन का कोई लक्ष्य है, न वह लक्ष्यहीन है। न व्यक्ति स्वतंत्र है, न परतंत्र है। इस रूप में देखना ही व्यक्ति का 'साक्षिभाव' है जिसे शांकर-वेदांत में व्यक्ति की वास्तविकता स्वीकार की गई है। प्रयोजन, लक्ष्य और महत्त्व अहंबुद्धि में है। यदि व्यक्ति में 'कर्ता-अहं' की भावना है तो उसके लिए उसके कर्मों का प्रयोजन-और लक्ष्य भी होगा। इनकी प्राप्ति या निकटता के अनुरूप उसका महत्त्व भी होगा। अहंभावयुक्त व्यक्ति ही जीवन में बंधन को अनुभव करता है। अन्यथा वास्तव में-

न निरोधो न चोत्पतिर्त्तन बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥
(विवेकचूडामणि-५७५)

बी. कामेश्वर राव

तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन अध्ययनशाला
पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय,
रायपूर (म.प्र.)

टिप्पणियाँ

१. यशदेवशल्य, मूल्य तत्त्वमीमांसा, पृष्ठ १६९,
२. शारीरक भाष्य २-३-३९
३. बृ. भा. २-१-१०
४. स्वातंत्र्यस्थितिकाले कदाचित् बुद्धि मोहतः। द्वैत वेदान्त का तात्त्विक अनुशीलन में डॉ. कृष्णकान्त चतुर्वेदी द्वारा उद्धृत
५. दृष्टव्य : जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ. - २०७
६. A.L. Basham - History and Doctrine of the Ajivakas p. 233
७. वही पृ. २४१.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिंदी) प्रकाशन

आत्मस्वीकृति – ले. प्रो. सुरेंद्र बारलिंगे
अनु. प्रा. राजमल बोरा
सं. डॉ. सुभाषचंद्र भेलके

पृ. ८८ मूल्य रु. ६०।-

मनुष्य और समाज के गौरवशाली अस्तित्व की प्रस्थापना में दर्शन किस तरह अपनी भूमिका अदा कर सकता है ? दार्शनिक का भावविश्व एवं विचार-विश्व किस तरह का होता है ? दार्शनिक अपना जीवन किस तरह व्यतीत करता है ? इन प्रश्नों की खोज का समाधान दिलानेवाली यह पुस्तक अवश्य ही पाठकगण के लिए नयी दृष्टि प्रदान करेगी ।

★

नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (प्रथम खंड)

ले. डॉ. बलिराम शुक्ल

पृ. २१० मूल्य : रु. १६०।-

नव्यन्याय के अध्ययन के लिए पारंपरिक शिक्षा की आवश्यकता है । लेकिन प्राथमिक स्तर पर तथा तौलनिक अभ्यासकों के लिए नव्यन्याय के पदार्थों का मौलिक परिचय होना जरूरी है । इस दृष्टि से यह पुस्तक पाठकों की सहायता करेगी ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आचार्य अकलंक की प्रमाण-मीमांसा व सत्यता की कसौटी

आचार्य अकलंक के अनुसार- प्रमाण शब्द "भाव, कर्तृ और करण" इन तीनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। जब भाव की प्रधानता होती है तो प्रमा को प्रमाण कहते हैं, कर्तृ अर्थ मे प्रमातृत्व-शक्ति की प्रधानता होती है जब कि करण अर्थ में प्रमेय और प्रमाण की भेद विवक्षा होती है। इनमें से विवक्षानुसार अर्थ ग्रहण किया जाता है।[१]

प्रमाण के भाव-साधन और कर्तृ-साधन के रूप पर कुछ आपत्तियाँ उठाई गयी थीं, जिनका समाधान अकलंक ने किया है। यदि प्रमाण को भाव-साधन के अर्थ में लिया जाये तो चूँकि प्रमा ही प्रमाण है और प्रमा ही फल है अतएव, प्रमा के फल का अभाव हो जायेगा। इस शंका का समाधान करते हुए अकलंक कहते हैं कि आत्मा को इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान होता है वही उसका फल है। अत: प्रमाण का मुख्य फल अज्ञान-निवृत्ति ही है।[२]

प्रमाण को यदि कर्तृ-साधन माना जाय तो प्रमाण प्रमाता-रूप हो जाता है। अन्य शब्दों में, प्रमाता आत्मा अर्थात् गुणी और उसका गुण-रूप ज्ञान भिन्न-भिन्न होंगे क्यों कि गुणी और गुण में भेद होता है। परन्तु ऐसी धारणा जैन दर्शन के उस आधारभूत सिद्धान्त के विपरीत जाती है जिसके अनुसार ज्ञान आत्मा से पृथक् नहीं है। इस सन्दर्भ में अकलंक का कहना है कि आत्मा का गुण ज्ञान है। ज्ञान और आत्मा अपनी स्वाभाविक पूर्ण-अवस्था में एक-दूसरे से पृथक् नहीं रह सकते। यदि ज्ञान को आत्मा से सर्वथा भिन्न माना जाता है तो आत्मा "पाट" की तरह "अज्ञ" ज्ञानशून्य जड हो जायेगी।[३] कुंदकुंद का कथन है कि यदि ज्ञानी और ज्ञान को सदा एक दूसरे से भिन्न पदार्थान्तर माना जायेगा तो दोनों अचेतन हो जायेंगे। क्यों कि ज्ञान के बिना आत्मा नहीं रह सकती। अत: ज्ञान आत्मा है।[४]

'यदि प्रमाण और प्रमेय भिन्न भिन्न है तो क्या यह संभव है कि कोई प्रमेय प्रमाण हो जाय' इसके उत्तर में अकलंक कहते हैं यदि प्रमाण स्वयं अपना प्रमेय नहीं बन सकता, तो इसका अर्थ होगा उसे अपनी सत्ता सिद्ध करने के लिए दूसरे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रमाण का सहारा लेना पडता है, दूसरे प्रमाण को तीसरे प्रमाण का और इस प्रकार अनवस्था-प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। यदि ज्ञान को दीपक की तरह "स्व" और "पर" का प्रकाशक माना जाये तो प्रमाण और प्रमेय के संघर्ष की उपर्युक्त समस्या का हल हो जाता है।[५] प्रमेय निश्चित रूप से प्रमेय ही है, किन्तु प्रमाण-प्रमाण भी है और प्रमेय भी।[६]

ज्ञान की प्रमाणता :

जैन-दर्शन सिद्धान्ततः प्रमाण को कई अर्थों में प्रयोग करता है लेकिन फिर भी उसको मुख्यतः ज्ञान के अर्थ में ही प्रयोग किया जाता है। ऐसा मानने का कारण क्या है, इसे स्पष्ट करने के लिये प्रमाण का लक्षण जानना अपेक्षित है। अकलंक के अनुसार जो प्रमा का साधकतम कारण हो या जिसके द्वारा अच्छी तरह से जाना जाता है, वह प्रमाण है।[७]

माणिक्यनन्दि के विचार में हेय (त्याज्य) एवं उपादेय (ग्राह्य) रूप-पदार्थों की संसिद्धि ज्ञान-प्रमाण से होती है।[८] अर्थ-संसिद्धि के प्रधान कारणभूत प्रमाण से वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है। अतः स्पष्ट है कि प्रमाण का कार्य वस्तु के यथार्थ रूप को प्रदर्शित करना है। प्रमाण के इस कार्य में ज्ञान सहायक होता है। अन्य दर्शनों द्वारा मान्य सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति, योग्यता आदि ज्ञान की उत्पादक सामग्री में तो सम्मिलित किये जा सकते हैं, किन्तु वे स्वयं अचेतन होने के कारण प्रमाण के साक्षात्करण नहीं हो सकते।[९] प्रमाण का साक्षात्करण तो चेतन ज्ञान ही हो सकता है।

लघीयस्त्रय की विवृत्ति में इसी ज्ञान की प्रमाणता का समर्थन करते हुए अकलंक देव ने लिखा है कि आत्मा को प्रमिति-क्रिया या स्वार्थविनिश्चय में, जिसकी अपेक्षा होती है, वही प्रमाण है और वही साधकतम रूप से अपेक्षणीय ज्ञान है।[१०]

प्रमाण संप्रत्यय के विकास में अकलंक का योगदान :

प्रमाण संप्रत्यय के विकास में अकलंक के योगदान को देखने के लिए प्रमाण-विषयक ऐतिहासिक विवेचनों को देखना होगा। उमास्वाति ने ही सर्वप्रथम, ज्ञान और प्रमाण का स्पष्ट निरूपण किया था। अतः उमास्वाति की प्रमाण-परिभाषा का विश्लेषण आवश्यक है। इनके मत में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ज्ञान के प्रमाण के पांच प्रकार हैं।[११] उमास्वाति के ही मत में सम्यक्-ज्ञान ही प्रमाण है।[१२] जिसका अर्थ है जो प्रशस्त हो, अव्यभिचारि हो और संगत हो।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उस्मास्वाति के पश्चात्वर्ती विचारकों ने प्रमाण के लक्षण में ''ज्ञान'' पद को तो स्थान दिया, किन्तु उस ज्ञान के ''सम्यक्'' विशेषण के स्थान पर अन्य विशेषणों का प्रयोग किया। सिद्धसेन[१३] ने ''स्वपरावभासि'' व ''बाधाविवर्जित''[१४] ज्ञान को प्रमाण कहा।

अकलंक देव ने प्रमाण संप्रत्यय का विकास करते हुए एक नया लक्षण दिया ''अविसंवादी''।[१५] उनके अनुसार अविसंवादी ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि स्वसंवेदन तो ज्ञान सामान्य का लक्षण है। प्रमाणता और अप्रमाणता का निर्णय अविसंवाद और विसंवाद के आधार पर करना चाहिये। अकलंक-द्वारा प्रमाण के इस नवीन लक्षण का औचित्य यही है कि कोई भी ज्ञान एकान्त रूप से प्रमाण नहीं होता। चूँकि इन्द्रियाँ सीमित शक्ति वाली होती हैं, इसलिए इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान सदैव सत्य नहीं होता। रेल से बाहर दिखाई देने वाले वृक्ष, मकान, पहाड आदि के अस्तित्व के विषय में कोई विसंवाद न होने के कारण उन चीजों का ज्ञान अविसंवादी है किन्तु चलती रेल से वृक्ष, मकान, आदि का चलना विसंवादी होने से अप्रमाण है। सभी भ्रमपूर्ण ज्ञान विसंवादी होने से अप्रमाणही है। अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण मान लेने पर अविसंवादी ज्ञान के अर्थ का स्पष्टीकरण आवश्यक है। अकलंक के अनुसार, अविसंवादी ज्ञान का अर्थ है ऐसा ज्ञान जिससे बाह्य वस्तु जैसी है वैसी ही ज्ञान में प्रकट हो जाय। अन्य शब्दों में बाह्य वस्तु का यथावत् ज्ञान में प्रकटीकरण ही अविसंवाद है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अकलंक अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण मानते हुए उसे अनधिगतार्थग्राही भी कहते हैं।[१६] प्रमाण के इस नवीन लक्षण का अभिप्राय है- ऐसा ज्ञान प्रमाण होगा जिसका किसी दूसरे प्रमाण से निर्णय न किया गया हो। प्रमाण का विषय ''अपूर्व'' हो।

माणिक्यनन्दि अकलंक देव के प्रमाण के उपरोक्त नवीन लक्षण का समर्थन करते प्रतीत होते हैं जब वे प्रमाण को ''अपूर्वार्थ'' विश्लेषण देते हैं। साथ ही कहते हैं कि ''स्व'' अर्थात् अपने आपके और ''अपूर्वार्थ'' अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से नहीं जाना जा सकता ऐसे पदार्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।[१७]

प्रमाण की परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट होगा कि जैन दार्शनिकों द्वारा प्रमाण के लक्षण के रूप में विविध पद प्रयोग किये गये-सम्यक् अविसंवादी, अनधिगतार्थग्राही, स्वपूर्वार्थव्यवसायीं और बाधाविवर्जित, स्वपरावभासी। यहाँ स्वाभाविक रूप से प्रशन उठता है कि प्रमाण के विषय में यह मतभेद क्यों है ? वस्तुतः शब्दों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की इन विभिन्नताओं के पीछे सत्यता की कई कसौटियाँ छिपी हैं ।

प्रमाण की सत्यता की कसौटी

पूर्व विवेचना से स्पष्ट हो चुका है कि जैन-दार्शनिकों के अनुसार (अकलंक भी सम्मिलित है) ज्ञान प्रमाण है, लेकिन चूँकि सभी ज्ञान प्रमाण नहीं माने जा सकते, इसलिये यहाँ ज्ञान के "सत्यापन" का प्रश्न उठता है । सत्यापित ज्ञान ही प्रमाण है । ज्ञान की परीक्षा किस आधार पर की जा सकती है, "सत्य" का अर्थ है, इसी की व्याख्या के लिए जैन-दार्शनिकों-द्वारा सम्यक् अविसंवादी, स्वपरावभासिक, स्वपूर्वार्थव्यवसायी, अनधिगतार्थग्राही, और बाधाविवर्जित आदि विविध पदों का प्रयोग किया गया है । इन मापदण्डों द्वारा ही उन्होंने "सत्य" के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है । सत्यता के इन मापदण्डौं में आपस में कोई संगति प्रतीत नहीं होती है । यह बात यदि पाश्चात्य-दर्शन में सत्यता के स्वरूप और कसौटियों के अध्ययन के सन्दर्भ में जैन-दर्शन की सत्यता के स्वरूप और कसौटियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो अधिक स्पष्ट होगी ।

पाश्चात्य-दर्शन में मुख्यत: सत्यता की तीन कसौटीयाँ हैं — संवादिता (या अनुकूलता) का सिद्धान्त (correspondance theory), अबाधिता (अथवा सामंजस्य) का सिद्धान्त (coherence theory) और अर्थक्रियावादी (या उपयोगितावादी) सिद्धान्त (pragmatic theory)।[१८]

सत्य के संवादिता सिद्धान्त के अनुसार सत्य वह है जो यथार्थ से मेल खाये, जो वास्तविकता के अनुरूप हो । इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार अनुकूलता को सत्य का लक्षण ही नहीं वरन् सत्यता की कसौटी भी माना गया है ।

जैनदर्शन सत्यता की इस कसौटी से वहाँ सहमत प्रतीत होता है जहाँ प्रमाण का लक्षण सम्यक्त्व (उमास्वाति) और अविसंवादित्व (अकलंक) माना गया है । सम्यवत्व को परिभाषित करते हुए उमास्वाति ने कहा है सम्यक् ज्ञान वह है जो पदार्थ को न्यूनतारहित एवं अधिकतारहित ज्यों का त्यों जानता है । इसी प्रकार अविसंवादित्व का लक्षण करते हुए अकलंक कहते हैं- वह ज्ञान जिसका तथ्य या यथार्थता से विसंवाद न हो, ऐसा ज्ञान जिसमें बाह्यार्थ की यथावत् उपलब्धि हो । बाह्यार्थ की यथावत् प्राप्ति व अप्राप्ति पर अविसंवाद और विसंवाद निर्भर है । अत: इससे यहाँ यह निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान सत्य (या, दूसरे शब्दों में प्रमाण) हो सकता है जो सम्यक् हो (उमास्वाति तथा हेमचन्द्र के अनुसार) तथा अविसंवादी हो (अकलंक के अनुसार), और वस्तु का यथातथ्य चित्रण अथवा यथार्थता की यथावित् ज्ञान में उपस्थिति ही सत्यता की कसौटी है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सत्य की इस कसौटी को यदि मान लिया जाये, तो इसमें कुछ कठिनाइयाँ सामने आती हैं, जैसा कि इस कसौटी को मानने वाले पाश्चात्त्य दार्शनिकों के सामने भी ये कठिनाइयाँ आती रही हैं। ज्ञान की यथार्थता से अनुरूपता उस तरह नहीं मापी जा सकती, जिस तरह कोई भौतिक वस्तु मापी जाती है। इसके अतिरिक्त, कोई किसी तथ्य का संवादी है- यह कैसे कहा जा सकता है? ज्ञान तथ्य के अनुकूल है- यह कहना तभी सार्थक है, जबकि हमें उस तथ्य का, उस ज्ञान से कोई स्वतंत्र पूर्वज्ञान हो चुका हो। लेकिन प्रश्न उठता है जिसका पूर्वज्ञान हो चुका हो उसके फिर से ज्ञात होने का क्या औचित्य है? यहाँ वस्तुतथ्य का पूर्वज्ञान होना प्रमाण के अनधिगतार्थग्राही लक्षण के विरुद्ध है क्योंकि इस लक्षण के अनुसार प्रमाण का कार्य प्रमाणान्तर से अनिर्णित अर्थ का निर्णय करना होता है। फिर यह कहना कि "पत्तियाँ हरी हैं" तथ्य के साथ संवाद रखता है जो पुनरुक्ति मात्र है, क्योंकि तथ्य स्वयं ज्ञात विषयों में हुआ करते हैं। तथ्य तथा सत्य एक बात है। अत: मात्र संवादित्व से प्रत्येक ज्ञान के सत्य की सिद्धि नहीं की जा सकती। एक ज्ञान का वस्तु तथ्य से संवाद स्थापित करना ही असंभव है, फिर यदि वस्तु तथ्य की हमारी धारणा गलत है तो संवाद भी गलत होगा जिसके परिणामस्वरूप मिथ्या ज्ञान भी सत्य सिद्ध हो जायेगा।

कुछ जैन-दार्शनिकों ने प्रमाण के तीन लक्षण बताये हैं- अबाधित्व, अव्यभिचारित्व और संगति। जैसा कि पूर्व विवेचना से स्पष्ट हो चुका है उस ज्ञान को प्रमाण मानेंगे जिस ज्ञान से संगति हो। इसका आशय है कि कुछ दार्शनिकों ने सत्यता कि कसौटी संगति मानी है। पाश्चात्त्य दर्शन में भी आदर्शवादी दार्शनिक जिनमें हेगेल, ग्रीन, बोसांके और ब्रेडले प्रमुख हैं, ने संगति को सत्यता की कसौटी माना है। इनके अनुसार हमारे ज्ञान की सत्यता शेष ज्ञान के साथ संगति में निहित है। यदि हमारा वर्तमान ज्ञान पूर्व ज्ञान के विपरीत है तो हो सकता है हमारा वर्तमान ज्ञान गलत हो। यद्यपि कभी कभी ऐसा भी होता है कि नवीन खोजों एवं अनुसंधानों द्वारा हमारा पूर्व ज्ञान गलत सिद्ध कर दिया जाता है और नवीन ज्ञान को सत्य। किन्तु यहाँ पर स्पष्ट है कि नवीन ज्ञान और पूर्व ज्ञान में संगति स्थापित कर दी गयी और दोनों में विरोध समाप्त कर दिया गया। इसका तात्पर्य है कि किसी भी स्थिति में बाधित ज्ञान सत्य नहीं माना जा सकता। ज्ञान में संगति, ज्ञान की सत्यता के विश्वास के लिए आवश्यक है। ज्ञातव्य है कि सत्यता की यह कसौटी अकलंक और माणिक्यनंदि के "अपूर्व" विश्लेषण की विरोधी है।

सत्यता की इस कसौटी में भी कई कठिनाईयाँ है। तर्कशास्त्र में अबाधिता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(non-contradiction) विश्लेषणात्मक परामर्शों की सत्यता की कसौटी है। विश्लेषणात्मक परामर्शों का अर्थ- ऐसे परामर्श जो कोई नवीन ज्ञान तो नहीं देते हैं परन्तु इन परामर्शों में विधेय उद्‌देश्य का स्पष्टीकरण मात्र करते हैं। विश्लेषणात्मक परामर्श को उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं जैसे त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोणों के बराबर होता है, इस विश्लेषणात्मक परामर्श में उद्देश्य त्रिभुज के तीनों कोणों के योग से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विधेय दो समकोण के बराबर होगा। किन्तु ज्ञान विधेय- द्वारा उद्देश्य के स्पष्टीकरण तक सीमित नहीं है। अतः ज्ञान को विश्लेषणात्मक परामर्शों तक सीमित नहीं किया जा सकता। ज्ञान में विधेय को उद्देश्य में कुछ नई बातें जोडनी चाहिये। जिस परामर्श में विधेय उद्देश्य में कुछ नई बातें जोडता है उस परामर्श को संश्लेषणात्मक परामर्श कहते हैं।

अतः स्पष्ट है कि यदि सत्यता की कसौटी अबाध का नियम मान लिया जाये तो ज्ञान सिर्फ विश्लेषणात्मक परामर्शों तक सीमित रह जायेगा और सम्पूर्ण ज्ञान संदेह युक्त हो जायेगा। पाश्चात्त्य-दर्शन में डेविड ह्यूम ने इसी प्रकार मात्र अबाध नियम को सत्य की कसौटी मानकर सम्पूर्ण ज्ञान को संदेहयुक्त सिद्ध किया था। ह्यूम के पश्चात्वर्ती जर्मन दार्शनिक इमैन्युअल कांट ने ह्यूम के मत का तर्कपूर्ण खंडन कर दिया था। कांट ने दिखाया कि संश्लेषणात्मक परामर्श की सत्यता पर संदेह नहीं किया जा सकता। ज्ञान सिर्फ यह नहीं है कि ''चौकोर गोल नहीं है'', वरन् इस ज्ञान की सत्यता में किंचित् नहीं किया जा सकता कि अमुक मेज एक विशिष्ट आकार और विशिष्ट रंग की है।

यदि संगति और अबाधिता को ज्ञान की सत्यता की कसौटी माना जाये तो जिस प्रकार सत्य ज्ञानों में सामंजस्य स्थापित किया जाता है, उसी प्रकार असत्य ज्ञानों में सामंजस्य स्थापित करके असत्य ज्ञानों का समूह बना लेना असंभव नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि संगति और अबाधिता को सत्य की कसौटी मानने पर सत्य और भ्रमपूर्ण ज्ञानों में अंतर नहीं किया जा सकता क्यों कि भ्रमपूर्ण ज्ञानों में भी संगति स्थापित की जा सकती है। माणिक्यनन्दि द्वारा बताये गये प्रमाण के लक्षण का विश्लेषण करने पर सत्यता की एक अन्य कसौटी सामने आती है- **अर्थक्रियावादी कसौटी**। इस कसौटी के अनुसार कोई ज्ञान तभी सत्य कहा जा सकता है जब मानव-व्यवहार द्वारा निरीक्षण-परीक्षण द्वारा उस ज्ञान को परख लिया जाये। डिवी के अनुसार सत्य का केवल एक अर्थ है- परीक्षित। अर्थक्रियावादी विलियम जेम्स के अनुसार केवल उन्हीं प्रत्ययों को सत्य कहा जा सकता हैं जो प्रयोग द्वारा प्रमाणित किये जा सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान अनुभवाश्रित परीक्षण के पश्चात्

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही सत्य सिद्ध हो सकता है।

इस सिद्धान्त में भी कई कठिनाईयाँ हैं। सर्वप्रथम तो सत्य का निर्णय सदैव परीक्षण नहीं होता, दूसरे, उपयोगिता की अनुभूति में भ्रम हो सकता है। इसके अतिरिक्त यह आवश्यक नहीं है कि जो उपयोगी वह यथार्थ है। कभी किसी परिस्थिति में झूठ बोलना उपयोगी हो सकता है, किन्तु उस उपयोगिता से उस झूठ की यथार्थता सिद्ध नहीं की जा सकती। उपयोगिता और सत्यता में अनिवार्य संबंध नहीं है।

उपर्युक्त विवेचना से यही सिद्ध होता है कि प्रमाण सत्यता की कसौटी पर परखा हुआ ज्ञान है। **प्रमाण ज्ञान मात्र नहीं है, अपितु परीक्षित ज्ञान है,** सत्यापित ज्ञान है।

अकलंक देव ने प्रमाण का एक लक्षण दिया—"अनधिगतार्थग्राही" और माणिक्यनन्दि ने भी प्रमाण का एक लक्षण दिया - "स्वपूर्वार्थव्यवसायी"। अकलंक के अनुसार, अनधिगत का अर्थ है ऐसा ज्ञान प्रमाण होगा जो प्रमाणान्तर से अनिर्णित अर्थ का निर्णय करे। इसी प्रकार माणिक्यनन्दि के "स्व" अर्थात् अपने और "अपूर्वार्थ" अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से नहीं माना गया है, ऐसे पदार्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा है। यदि प्रमाण के ये "अपूर्व" और "अनधिगत" विश्लेषण मान लिये जाते हैं तो इसका अर्थ कि प्रमाण सत्यापित ज्ञान नहीं वरन् प्रत्युत ऐसा ज्ञान है जिसको पहले किसी प्रमाण से नहीं जाना गया है। अतः प्रमाण के लक्षण परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार उमास्वाति, अकलंक, सिद्धसेन, माणिक्यनन्दि आदि दार्शनिकों के प्रमाण के लक्षण विवेचन से स्पष्ट होता है कि इनके द्वारा प्रमाण के लक्षण-कथन में सत्यता की विविध कसौटियों को माना गया है। साथ ही, पाश्चात्त्य-दर्शन की सत्यता की विविध कसौटियों से इन दार्शनिकों के प्रमाणलक्षण की तुलना करने पर नई बात सामने आई कि जहाँ पाश्चात्त्य-दार्शनिकों द्वारा सत्यता की नई विविध कसौटियों को परस्पर विरोधी माना गया है और किसी एक कसौटी को ही अंतिम रूप से चुना गया वहीं इन दार्शनिकों द्वारा प्रमाण के रूप में एक ही सत्यता ने ये विविध कसौटियाँ स्वीकार कीं।

प्रश्न उठता है कि इन दार्शनिकों द्वारा प्रमाण के लक्षण में एक साथ सत्यता की ये विविध कसौटियाँ क्यों मानी गयीं? इसका उत्तर खोजा जा सकता है— दर्शन की विशिष्ट तत्त्वमीमांसा में, जिसका अनिवार्य सार निकलता है उनकी **अनेकान्तवादी दृष्टि, जो इसके सम्पूर्ण दर्शन** में व्याप्त है। इस अनेकान्तवाद के सिद्धान्त के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनुसार वस्तु में विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनन्तधर्म रह सकते हैं क्यों कि वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। वस्तु में जितने विरोधी धर्म हैं सब सत्य है क्योंकि वस्तु-विषयक सम्पूर्ण यथार्थता का ज्ञान उन विरोधी धर्मों के समन्वय में निहित है। अत: वस्तु के विषय में सभी मत उपयोगी हैं क्योंकि वे वस्तु के विविध पहलुओं का कथन करते हैं और वस्तु के विषय में सम्पूर्ण तथ्य को जानने में सहायक होते हैं। वस्तुओं के विषय में जो नाना मत-मतान्तर हैं, उनका कारण वस्तु का अनेक धर्मात्मकस्वरूप है।[१९]

पाश्चात्त्य-दार्शनिक वस्तु और सत्यता की एक कसौटी मानते हैं और दूसरी कसौटी को उस कसौटी को उस कसौटी का विरोधी सिद्ध करते हैं क्योंकि उनके मत में सत्ता का स्वरूप अपरिवर्तनशील हैं। इसके विपरीत, जैन-दार्शनिक वस्तु का विवेचन एक विशिष्ट रूप में करते हैं, वस्तु-विषयक सभी दृष्टियाँ उस विशिष्ट दृष्टिकोण के संबंध में सत्य हैं। सभी दृष्टियाँ सत्य को जानने के सम्भावित माध्यम हैं। इससे सिद्ध होता है कि इन दार्शनिकों द्वारा प्रमाण के जो विभिन्न लक्षण दिये गये हैं वे सम्भव हैं क्योंकि वस्तु में विभिन्न गुण संभव हैं।

विभागाध्यक्ष **बच्छराज दुगड**
अहिंसा एवं शान्ति अध्ययन विभाग
जैन विश्व भारती संस्थान
(मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनू (राजस्थान)

टिप्पणियाँ

१. तत्त्वार्थवार्तिक, अकलंक, सं. पं. महेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५३, १.१०-१
२. वही १.१०-६-७
३. वही, १.१०-८-९
४. पञ्चास्तिकाय समयसार, कुंदकुंद, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, १९१६, गाथा ४८, ४९
५. तत्त्वार्थवार्तिक, १.१०-१२
६. वही, १.१०-१४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

७. वही, पृ.२९७
८. परीक्षामुख, माणिक्यनंदी, सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ, १९४०,१.२
९. प्रमाण मीमांसा, हेमचन्द्र, अंग्रेजी अनुवाद, प्रो. सत्कारि मुखर्जी, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी, १९१०,१.८
१०. न्यायकुमुदचन्द्र, (अकलंक की लघीयस्त्रय पर टीका) प्रभाचन्द्र, सं. पं. महेन्द्रकुमार, मानिकचन्द्र, दिगंबर जैन सीरीज, मुंबई, १९३८, १.३
११. मतिश्रुताऽवधिमनः पर्ययकेवलानिज्ञानम्, तत्त्वार्थसूत्र, १.९
१२. तत्प्रमाणे/ वही १.१०
१३. प्रमाणं स्वपरावभासि ज्ञानं बाधाविवर्जितम् । न्यायावतारवार्तिक, सिद्धसेन, सिंघी जैन ग्रंथमाला, भारतीय विद्याभवन, मुंबई, १९४९,१.२
१४. न्यायावतार, १, २
१५. अष्टसाहस्त्री, (अकलंक की अष्टशती पर टीका) विद्यानंदी, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, १९१५, पृ. १७५
१६. वही, पृ. १७५
१७. स्वपूर्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानं प्रमाणम् । परीक्षामुख, १.१
१८. Dictionary of Philosophy, Ed. Dogobert D. Runes, Philosophical Library, New York, 1942, page 321-22
१९. पंचास्तिकाय, गाथा ८.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY PUBLICATIONS

Daya Krishna A.M. Ghose(eds), Comtemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran.) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi(ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A. M. Ghose and P. K. Srivastaav(eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and P. P. Gokhale(eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities(upto 1980), Part I, Rs. 50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs. 25/--

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs. 30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs. 100/-

Contact :

The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Pune,
Pune-411007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गीता और मानववाद

"मानववाद" पद के अंग्रेजी पर्याय "ह्यूमनिज्म" का प्रयोग पश्चिमी विचार-परम्परा के अन्तर्गत एक खास तरह के दृष्टिकोण को सूचित करने के लिए ही किया गया है ।[१] इस प्रकार "मानववाद" उस दृष्टिकोण की संज्ञा है जो सत्, ज्ञान और मूल्यों के क्षेत्र में मानव-व्यक्ति, उसके अनुभव और प्रयोजनों को ही केन्द्र में रखने का पक्ष लेता है । यह दृष्टिकोण एक दार्शनिक मत के रूप में सर्वप्रथम यूनान के सोफिस्टों के चिन्तन में अभिव्यक्त हुआ था । तब से लेकर आज तक, यह प्राय: सत्, ज्ञान और मूल्य तीनों के विषय में निरपेक्षवाद का विरोधी और सापेक्षवाद का समर्थक रहा है । इसने सत्य, वास्तविकता और मूल्यों के साधारंण मानवीय अनुभव और समझ से परे होने का सदैव विरोध किया है ।[२] यही नहीं बल्कि आधुनिक मानववाद ने तो ईश्वर की सत्ता का भी मनुष्य के हित में विरोध किया है और एक अच्छे जीवन की प्राप्ति के लिए मनुष्य के अपने साधनों और सामर्थ्य पर ही विश्वास किया है ।[३]

अब मानववादी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवेचना को दृष्टिगत रखकर यह लग सकता है कि गीता और मानववाद में विरोध का रिश्ता ही हो सकता है । इसके बावजूद प्रस्तुत निबन्ध का विषय इस विचार का प्रतिपादन करना है कि गीता के मूल सिद्धान्त और मानववादी दृष्टिकोण में समन्वय की आशा करना युक्तिसंगत हो सकता है । लेकिन यह तभी सम्भव हो सकेगा, जब हम गीता और मानववाद दोनों को देखने के अपने तरीके में कुछ परिवर्तन लाएँगे । इस परिवर्तन की आवश्यकता के प्रमाणस्वरूप पहले हमें यह स्पष्ट करना होगा कि गीता में अनेक धारणाएँ ऐसी हैं जिनके परिप्रेक्ष्य में मानववादी दृष्टिकोण की एक खास अवधारणात्मक तल पर गीता के साथ सचमुच संगति नहीं बैठती है ।

गीता और मानववाद में असंगति

मानववादी दृष्टिकोण के अनुसार साधारण मनुष्य के अनुभव और प्रयोजनों को बड़ा महत्त्व दिया जाता है । यहाँ तक कि मानववादी विचारक साधारण मनुष्य के अनुभव और प्रयोजनों के आधार पर अपने विभिन्न सिद्धातों को स्थापित करने का भी प्रयास करते हैं । जब कि गीता की दृष्टि में साधारण मनुष्य के अनुभव और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रयोजन "आसुरी" सम्पत्ति के सूचक हैं। गीता का कथन है -

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुमकम ॥[४]

(अर्थात् वे (आसुरी व्यक्ति) कहा करते हैं कि जगत् आश्रयरहित, असत्य (धार्मिक कर्मों का मूल्यहीन होना) और बिना ईश्वर के अपने आप केवल स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हैं। अत: काम ही इसका कारण है, और कोई कारण नहीं है।) इस तरह के व्यक्ति दम्भ, मान और मद से युक्त होते हैं, कभी पूरी न होने वाली कामनाओं पर आश्रित होते हैं, अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके और भ्रष्ट आचरणों को धारण करके संसार में विचरते हैं।[५] उन्हें मृत्युपर्यन्त असंख्य चिन्ताएँ सताती रहती हैं। वे विषय-भोगों के भोगने में तत्पर रहते हैं। "जो कुछ है वह इतना ही है", ऐसा निश्चय करने वाले होते हैं।[६]

मानववाद में ज्ञान के जिस सापेक्षवादी और भेदपरक रूप का समर्थन किया गया है, उसे गीता में उत्तम श्रेणी के सात्त्विक-ज्ञान से भिन्न राजस ज्ञान ही कहा जाता है। देखिए —

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥[७]

(अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतों में अलग-अलग अनेक भावों को अलग-अलग रूप से जानता है, उस ज्ञान को तू राजस जान।) मानववादी दृष्टिकोण के अनुसार जो ज्ञान निरपेक्ष होने के कारण मनुष्य के लिए मूल्यरहित समझा गया है, गीता में उसे उत्तम कोटि का ज्ञान मानकर "सात्त्विक ज्ञान" कहा जाता है। यह वह ज्ञान है "जिससे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक अविनाशी सत्ता को विभागरहित देखता है"।[८] स्पष्ट है कि अगर सभी भूतों में एक ही अविनाशी सत्ता अविभक्त रूप में विद्यमान है, तो विश्व-व्यवस्था में मानव के लिए तात्त्विक दृष्टि से न तो किसी विशिष्ट स्थान को माना जा सकेगा और न मानवीय बुद्धि और इन्द्रियानुभव पर आधारित उस ज्ञान को पूर्णरूपेण सत्य कहा जा सकेगा, जो जगत् की वस्तुओं में नानात्व को प्रदर्शित करता है। अत: यहाँ भी गीता के सिद्धान्त की मानववादी सिद्धान्त के साथ संगति नहीं दिखाई देती।

मानववाद अपने सापेक्षतावादी आग्रह के कारण ज्ञान को व्यक्ति की अपनी धारणाओं तथा अनुभव पर आश्रित मानकर एक ज्ञानमीमांसीय किस्म के उदारतावाद का समर्थन करता है। गीता की दृष्टि में इस तरह के उदारतावाद को उचित नहीं माना जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं :-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनदन ।
बहुशा ह्यनन्ताश्चं बुद्ध्योऽव्यवसायिनाम् ॥[९]

(हे अर्जुन ! इस (कर्मयोग) में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है । किन्तु अस्थिर विचार वाले मनुष्यों की बुद्धियाँ निश्चय ही बहुत भेदों वाली और अनन्त होती हैं ।)

यहाँ गीता में कर्मयोग के संदर्भ में ज्ञानमीमांसीय सापेक्षवाद को अस्वीकार किया गया है । ऐसा इसलिए कि यहाँ सापेक्षवाद को स्वीकार करने का परिणाम यह होता है कि निष्काम कर्म की संभावना ही सिद्धान्तत: असम्भव हो जाती ।

मानववादी नीतिशास्त्रीय सापेक्षवाद के अनुसार नैतिक आदर्शों अथवा मूल्यों को मानवीय इच्छाओं, प्रयोजनो, संवेगों आदि मनोवैज्ञानिक तथ्यों से निगमित करने का प्रयास किया जाता है । इसके विपरीत, गीता के सिद्धान्तानुसार माना जाता है —

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन: ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥[१०]

(अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करता है, दूसरे पुरुष भी वैसा ही आचरण करते हैं । वह जो कुछ प्रमाण कर देता है अर्थात अपने आचरण से जो भी मानदंड स्थापित कर देता है, समस्त मनुष्य समुदाय उसी का अनुकरण करता है ।) इसका मतलब है कि नैतिक श्रेष्ठता का मानदंड नैतिक रूप से श्रेष्ठ मनुष्य ही है । कहा यही जा रहा है कि नैतिक सदाचरण को तथ्यों से निगमित नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह पूछे जाने पर कि कोई कर्म कर्तव्य क्यों है, गीता के अनुसार यही कहा जाएगा "क्योंकि श्रेष्ठ अर्थात् आदर्श पुरुषों ने ऐसा किया है" । अब यह कहना कि "आदर्श पुरुषों ने ऐसा किया है" कोई तथ्यात्मक कथन नहीं है बल्कि एक ऐसा कथन है जो पुन: "आदर्श" अर्थात् "मूल्य" के ही विषय में है । गीता में अन्यत्र शास्त्र को भी आदर्शों, मूल्यों अथवा कर्तव्यों के विषय में मानदंड स्वीकार किया है ।[११] शास्त्र और श्रेष्ठ पुरुष दोनों को एक साथ मानदंड स्वीकार करने में कोई भेद नहीं है, क्योंकि लगता है कि श्रेष्ठ पुरुष जो कहते हैं वही शास्त्र बन जाता है और जो शास्त्र के अनुसार चलते हैं वे श्रेष्ठत्व को प्राप्त कर लेते हैं । शास्त्र को ईश्वरकृत भी कहा गया है । अव्यय ईश्वर स्वयं "उत्तम पुरुष" अथवा "पुरुषोत्तम" है ।[१२] दूसरे श्रेष्ठ पुरुष भी इसीलिए श्रेष्ठ हैं, क्योंकि उन्होंने ईश्वर के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को समझ लिया है । अत: कर्तव्यों अथवा मूल्यों का मानदंड चाहे श्रेष्ठ पुरुषों को माना जाए या शास्त्र को माना जाए या ईश्वर को माना जाए, बात एक ही है । गीता को किसी भी स्थिति में यह मान्य नहीं होगा कि आदर्श अथवा कर्तव्य अपनी व्याख्या के लिए किसी तरह के निर्नैतिक तथ्यों पर आश्रित होते हैं । समकालीन दर्शन की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्दावली में कहें, तो गीता के अनुसार "चाहिए" को "है" से निगमित नहीं किया जा सकता। स्पष्ट है कि इस बिन्दु पर भी गीता के सिद्धान्त की मानववाद के सिद्धान्त के साथ संगति नहीं है।

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर यह मानना उचित लगता है कि अगर गीता और मानववाद को हम एक विशेष अवधारणात्मक ढाँचे में देखते हैं, तो इनके सिद्धान्तों में असंगति दिखाई देगी। परन्तु इन्हें देखने का एक दूसरा अवधारणात्मक ढाँचा भी हो सकता है। प्रसिद्ध प्रयोजनवादी दार्शनिक शिलर ने संकेत किया है कि मानववाद का निरपेक्षवाद के साथ समन्वय हो सकता है, बशर्ते कि यह दिखाया जा सके कि निरपेक्षवाद के पास यथार्थ मानवीय आवश्यकताओं का जवाब है।[१३] अब यह तो ज्ञात नहीं कि स्वयं शिलर इस बात को मानेंगे अथवा नहीं कि निरपेक्षवाद के पास यथार्थ मानवीय आवश्यकताओं के जवाब हो सकते हैं, या हो सकते हैं तो वे किस तरह के होंगे। तथापि शिलर के सुझाव में एक बात अन्तर्निहित रूप से मानी जा रही लगती है कि मानववादी दृष्टिकोण के पास मानवीय आवश्यकताओं के जवाब होने चाहिए।

मानववादी दृष्टिकोण ने हमेशा यह दावा किया भी है कि उसके सापेक्षतावादी तथा अनीश्वरवादी सैद्धान्तिक तंत्रों के पास मानवीय आवश्यकताओं के जवाब हैं और निरपेक्षतावादी तथा ईश्वरवादी सैद्धान्तिक तंत्रों के पास उन मानवीय आवश्यकताओं के युक्तिसम्मत जवाब नहीं हैं। जो भी हो, इतना तो किया ही जा सकता है कि गीता और मानववाद दोनों को मानवीय आवश्यकताओं के सामान्य अवधारणात्मक ढाँचे में रखकर देखा जाए। इस संदर्भ में यह कहना युक्तिसम्मत दिखाई देता है कि गीता और मानववाद दोनों ही का सम्बन्ध दो ऐसे दृष्टिकोणों से है जो मानवीय आवश्यकताओं के जवाब ढूंढना चाहते हैं। मानववाद ने मनुष्य की **बाहरी आवश्यकताओं** को अपना केन्द्र-बिन्दु बनाया है, जब कि गीता ने मनुष्य की **अन्दर की आवश्यकताओं**[१४] को अपना केन्द्र बिन्दु बनाया है। भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार मनुष्य की बाहरी आवश्यकताओं को ही "अनित्य" और अन्दर की आवश्यकताओं को "नित्य" कहा गया है। बाहरी आवश्यकताओं को उनकी उपेक्षा करने के मंतव्य से "अनित्य" नहीं कहा गया है, बल्कि उन्हें इसलिए अनित्य कहा गया है कि उनकी पूर्ति जिन चीजों से होती है उनका स्वभाव बदलने वाला है। दूसरी ओर, "नित्य" उन आवश्यकताओं को कहा गया है जिनकी पूर्ति किसी नित्य अवस्था अथवा सत्ता के अनुभव के बिना नहीं हो सकती। मनुष्य की आधारभूत आवश्यकताओं का विचार ही चतुर्विध पुरुषार्थों की व्यवस्था (मोक्ष, धर्म, अर्थ और काम) के रूप में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यक्त हुआ है। चतुर्विध पुरुषार्थों की व्यवस्था की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि मानववाद का सम्बन्ध "अर्थ" और "काम" से है, जब कि गीता का सम्बन्ध मनुष्य की "मोक्ष" नामक आवश्यकता से है। अब देखने की मुख्य बात यह है कि चतुर्विध पुरुषार्थों की इस व्यवस्था में जिस चीज को "धर्म" कहा गया है, उस पर गीता और मानववाद दोनों ने पर्याप्त रूप से ध्यान दिया है। मोटे तौर पर "धर्म" से अभिप्राय उन चीजों से है जिन्हें आजकल हम मनुष्य के नैतिक सामाजिक कर्तव्य, आदर्श अथवा मूल्य कहते हैं। अब यह देखने योग्य बात है कि हमारे प्रस्तुत साध्य में "धर्म" ही वह सूत्र बन सकता है जिसके द्वारा गीता और मानववाद में समन्वय की आशा की जा सकती है। इसका कारण साफ-साफ यह है कि गीता और मानववाद दोनों ही मनुष्य के कर्तव्यों, आदर्शों अथवा मूल्यों पर पर्याप्त ध्यान देते हैं। गीता का तो सम्पूर्ण सिद्धान्त ही मनुष्य के कर्तव्य की समस्या के संदर्भ में उद्भूत हुआ है। पर मानववाद ने भी अपने ढंग से मनुष्य के नैतिक जीवन की समस्याओं पर कम ध्यान नहीं दिया है। लोकतंत्र, समाजवाद, धर्म-निरपेक्षता, विश्व -बंधुत्व, मानवीय समता, मानवाधिकार आदि नैतिक-सामाजिक अवधारणाओं के सैद्धान्तिक आविर्भाव में मानववादी विचारधारा की महती भूमिका रही है। इसके बावजूद गीता और मानववाद दोनों ने मनुष्य के नैतिक जीवन की समस्या पर अपने-अपने ढंग से विचार किया है। गीता में यह विचार मनुष्य की अन्दर की आवश्यकता अर्थात् मोक्ष या ईश्वरानुभूति तथा तदनुरूप साधनों (जैसे श्रद्धा आदि) को ध्यान में रखकर किया गया है। यही गीता का अपना वैशिष्ट्य भी है मनुष्य अपने कर्मशील नैतिक जीवन का सम्यक्रूपेण निर्वाह करता हुआ भी मोक्ष या ईश्वरानुभूति को प्राप्त कर सकता है। यही नहीं बल्कि मनुष्य का कर्मशील नैतिक जीवन वैराग्यादि पर आधारित समझ से युक्त रहते हुए मोक्ष-प्राप्ति में एक सक्षम साधन बन सकता है, बशर्ते कि वह यह सीख ले कि भीतरी आसक्ति का त्याग करते हुए भी बाहर से कर्तव्य-कर्मों को कैसे किया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि गीता में अन्दर की आवश्यकता को ध्यान में रखकर मनुष्य के कर्तव्य-पक्ष पर विचार किया गया है। यही कारण है कि गीता को एक विशेष प्रकार का तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय तथा नीतिशास्त्रीय सैद्धान्तिक तंत्र स्वीकार करना पडता है। दूसरी ओर, मानववाद में मनुष्य की बाहरी आवश्यकताओं, परिस्थितियों तथा तदनुरूप साधनों को ध्यान में रखकर उसके जीवन के नैतिक-सामाजिक पक्ष पर विचार किया जाता है। इस प्रकार, मानववाद को अपने प्रयोजन के अनुरूप सैद्धान्तिक तंत्र में विश्वास करना होता है। निरपेक्षवादी और ईश्वरवादी सैद्धान्तिक तंत्र का उसके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिए कोई उपयोग नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि जिस विचारक का जैसा प्रयोजन होता है, उसे उसी तरह की सैद्धान्तिक व्यवस्था में विश्वास करना होता है। अत: दो तरह के मतों में सचमुच विरोध है या नहीं, अथवा वे एक दूसरे के पूरक हैं या नहीं इन प्रश्नों पर सैद्धन्तिक तंत्रों को आधार बनाकर विचार करने का कोई औचित्य नहीं है। हाँ, यदि दो मतों में प्रयोजन की दृष्टि से कोई विरोध हो, या वे एक-दूसरे के पूरक हों, तो ही उनमें सचमुच विरोध या समन्वय की स्थिति को स्वीकार करना चाहिए।

अब चूँकि गीता और मानववाद दोनों के प्रयोजन भिन्न-भिन्न हैं, अत: उनमें कोई विरोध नहीं दिखाई देता। जहाँ तक दोनों मनुष्य के नैतिक जीवन पर विचार करते हैं (भले ही अलग-अलग ध्यान-बिन्दुओं से ही सही)। दोनों में मेल-मिलाप का बिन्दु ढूँढा जा सकता है। इसका एक कारण यह भी होना चाहिए कि "धर्म" के लिए न तो यह कह सकते कि यह एकान्तिक रूप से कोई अन्दर की ही आवश्यकता है और न यह कह सकते कि यह एकान्तिक रूप से कोई बाहर की आवश्यकता है। वस्तुत: "धर्म" दोनों तरह की आवश्यकताओं को एक सूत्र में जोडने वाली चीज का नाम है। गीता के दृष्टिकोण के आधार पर तो ऐसा कहा ही जा सकता है। ऐसा यदि है तो हम न केवल यह कह सकेंगे कि गीता और मानववाद के दृष्टिकोणों में कोई विरोध नहीं है, बल्कि यह कहना भी युक्तिसम्मत होगा कि उनमें समन्वय भी हो सकता है। इस दृष्टि से यह देखा जा सकता है कि मानववाद के प्रयोजन की पूर्ति में गीता का मूल सिद्धान्त सहायक सिद्ध होता है। इतना ही नहीं बल्कि गीता के मूल सिद्धान्त को स्वीकार किए बिना मानववाद का प्रयोजन भी निर्बाध रूप में पूरा नहीं हो सकता। मानववाद मनुष्य के अनेक उच्चादर्शों को स्वीकार करता है। मानववादी दृष्टिकोण के अनुसार उन आदर्शों के औचित्य को मनुष्य के "काम" और "अर्थ" जैसी आवश्यकताओं के आधार पर प्रदर्शित किया जाएगा। इसमें कोई हर्ज नहीं। पर सवाल यह है कि व्यक्ति को जो करना चाहिए उसके योग्य उसका भीतरी पक्ष कैसे निर्मित हो सकेगा ? इस प्रश्न का मानववाद के पास कोई संतोषजनक उत्तर नहीं हो सकता। हमारा मानवीय अनुभव ही हमें बताता है कि हम बाहर से चाहे नैतिक दीखें अथवा अनैतिक, बाहर से चाहे हम कैसा भी कर्म करें, हमारे भीतरी प्रेरक नहीं बदलते, हमारा मूल स्वार्थमय स्वभाव नहीं बदलता। गीता में कहा भी गया है कि बाहर से संयमी दिखाई देने वाले व्यक्ति के केवल विषय ही निवृत्त होते हैं, उन विषयों में रहने वाली आसक्ति नहीं निवृत्त होती।[१५] कहने का तात्पर्य है कि नैतिक-सामाजिक उच्चादर्शों को प्राप्त

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करने में एक बडी बाधा व्यक्ति के अपने स्वभाव द्वारा भी प्रस्तुत की जाती है । वह आंतरिक बाधा व्यक्ति को कभी भी उसके कर्तव्य के मार्ग से च्युत कर सकती है । इस आंतरिक बाधा के निराकरण पर ध्यान दिए बिना मानववाद को अपने प्रयोजन में पूर्ण सफलता नहीं मिल सकती है । इसका मतलब यह नहीं है कि मानववादी अपने मूल कार्य को छोडकर इस समस्या को सुलझाने में लग जाए या अपने मूल कार्य में इसे भी शामिल कर ले । कहने का अभिप्राय सिर्फ इतना ही है कि मानववाद अपनी सीमाओं को पहचाने । उसे अपनी मान्यताओं के सम्बन्ध में निरपेक्ष और एकांगी दावों से बचना चाहिए । उसे सिर्फ इतना पहचान लेना चाहिए कि उसके प्रयोजन की पूर्ति के लिए उसे जिस तरह के मनुष्य की आवश्यकता है, उसका पूरा निर्माण उसकी अपनी सैद्धान्तिक सीमाओं के अन्तर्गत सम्भव नहीं हो सकता । कहना न होगा कि जिस तरह का मनुष्य मानववाद को सिद्धान्ततः चाहिए उसके निर्माण में गीता के मूल सिद्धान्त का काफी योगदान हो सकता है । गीता ही हमें यह आश्वासन देती है कि मनुष्य के नैतिक जीवन में आने वाली आंतरिक बाधा के निराकरण का उसके पास उपाय है । इस दृष्टि से यह कहना अयुक्तियुक्त नहीं कि गीता और मानववाद में न केवल कोई विरोध नहीं है, बल्कि उनमें समन्वय की भी आशा की जा सकती है ।

रीडर दर्शनशास्त्र विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र (हरियाना)

नरेन्द्र नाथ गुप्ता

टिप्पणियाँ

१. देखिए एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग ६, पृ. ८३०-८३१ ।
२. वही, पृ. ८३० ।
३. देखिए न्यू स्टेण्डर्ड इन्साइक्लोपीडिया, भाग ६, पृ. २८३ ।
४. भगवद्गीता, अध्याय १६, श्लोक ८ ।
५. वही, अध्याय १६, श्लोक १० ।
६. वही, अध्याय १६, श्लोक ११ ।
७. वही, अध्याय १८, श्लोक २१ ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

८. वही, अध्याय १८, श्लोक २० ।
९. वही, अध्याय २, श्लोक ४१ ।
१०. वही, अध्याय ३, श्लोक २१ ।
११. वही, अध्याय १६, श्लोक २४ ।
१२. वही, अध्याय १५, श्लोक १७ तथा १८ ।
१३. देखिए एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग ६, पृ.८३०।
१४. अन्दर की आवश्यकताओं से हमारा तात्पर्य "मनोवैज्ञानिक" कही जाने वाली आवश्यकताएँ नहीं है, अपितु आध्यात्मिक आवश्यकताएँ ही है ।
१५. भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक ५९ ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इतिहास की भारतीय अवधारणा पर पुनर्विचार

रूपांतरकारी समस्त इतिहास वर्तमानस्थ इतिहास है क्योंकि सिवाय ऐसे इतिहास के और कुछ भी हमारे गहन अनुभव का विषय नहीं हो सकता। सतही तौर पर यह धारणा एक ऐसी उत्तर-आधुनिक धारणा प्रतीत हो सकती है जो गहराई में 'इतिहास' को ही खारिज या विखंडित करने की कोशिश कर रही हो। इतिहास के अन्त की घोषणाओं वाले दौर में ऐसा संशय बाजिब है, परन्तु वैज्ञानिक तल पर उसे पूरी तरह मुनासिब नहीं माना जा सकता। सापेक्षता से उद्भूत आइंस्टीनियन विज्ञान हमें समय के वास्तविक द्वंद्वात्मक स्वरूप को समझने और ग्रहण करने के करीब ले आया है। ऐसे में समय की आध्यात्मिक-अमूर्त धारणाएँ खारिज तो नहीं होतीं परन्तु पुनर्विचार के दायरे में जरूर चली आती हैं और हम उनकी पुनर्व्याख्या करते हुए उनके भौतिक सारतत्त्व को डीकोड करने के नजदीक चले आते हैं। ब्रह्माण्ड के छाविक अथवा रेडियोग्रामिक नक्शे तैयार करते हुए खगोलविद् अचानक एक विचारणीय बिन्दु तक आ पहुँचे हैं। वे ब्रह्माण्ड के उन सुदूर ग्रहें-नक्षत्रों के चित्र खींच सकते हैं जिनसे चलीं किरणें तब की हैं जब हमारे सौर मंडल का जन्म हो रहा था, यानी आज हम उस समय के ब्रह्माण्ड की एक तस्वीर तो देख ही सकते हैं जब 'हमारा समय' अस्तित्व में आ रहा था। हमारा वह 'आदिम समय' अभी तक खोया नहीं है, वह आज भी स्थान की अतल दूरियों में मौजूद है। इसका अर्थ है : काल भौतिक रूप में अतिनश्वर हैं क्योंकि स्थान (आकाश) अतल और असीम है। समय की यह द्वन्द्वात्मक वैज्ञानिक रूप उसे सही मायनों में वर्तमानस्थ बना देता है। वर्तमान के इस बिन्दु में हमारा तमाम अतीत मौजूद है और भविष्य भी क्योंकि हम उसके बीज हैं। हम भविष्य के तमाम क्षणों का किसी न किसी रूप में अतीत हैं और सदा रहेंगे। इस अर्थ में 'इतिहास के अन्त' की बात एक असंभावता से ज्यादा कुछ नहीं। दूसरी तरफ जब माओ यह कहते हैं कि इतिहास का इस्तेमाल वर्तमान के लिये होना चाहिए न कि इतिहास को वर्तमान का इस्तेमाल करने की छूट देनी चाहिये — तो वे इतिहास की वर्तमानस्थता के सार्वत्रिक द्वन्द्वात्मक सत्य के काफी करीब दिखाई देते हैं। हालाँकि उनके उद्देश्य और सरोकार उतने व्यापक नहीं। मार्क्सवाद के तहत द्वन्द्वात्मक पद्धति का इस्तेमाल हमारे समाजार्थिक इतिहास के नक्शे बनाता है जो बाद में भविष्य की अपनी अवधारणा के लिये

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इतिहास का सरलीकरण करने की समस्या से उबरता-उलझता चलता है । इस तरह मार्क्सवाद से लेकर मौजूद संशोधक या नवमार्क्सवादी रूपों तक इतिहास की वर्तमानस्थता विशेष संदर्भों से सीमित और उसे भविष्य-बीज की तरह इस्तेमाल करने की दृष्टि से थोडी सरलीकृत होती भी दिखाई देती है । यदि ठीक से समझा जाए तो इतिहास की वर्तमानस्थता दरअसल इतिहास की वर्तमान-मुक्ति है क्योंकि वर्तमान उसे अक्षुण्ण-निरन्तर जीवन्तता प्रदान करता है । वर्तमान के अंतर्गत जीवन्त इतिहास ही वास्तविक इतिहास होता है । इतिहास के इस्तेमाल की अवधारणा जब इतिहास पर हावी होती है तो धीरे धीरे उसकी जीवन्तता को नष्ट कर उसे एक जड़ वस्तु बना देती है । अतः इस्तेमाल की जीवन्तता का कोई विकल्प नहीं है - ऐसा समझना चाहिये । परन्तु क्या इतिहास की जीवन्तता की बात हमें उसकी जैव अवधारणा की ओर तो नहीं ले जाती?

एक बात तो तय है कि यदि हम इतिहास के विकास की धारणा की बाबत आश्वस्त हैं तब कहीं न कहीं जैवीयता का कोई तत्त्व या अंश तो उसमें है ही; क्योंकि विकास जीवन का लक्षण है, जड का नहीं । (हालाँकि जड भी किसी प्रसुप्त-सुषुप्त जीवन की संभावना से एकदम इन्कार करना अब संभव नहीं रह गया है, परन्तु वह अवान्तर प्रसंग है) जैवीय विकास के तौर पर जब हम जन्म-विकास-मृत्युवाली चक्रीयता को इतिहास पर लागू करते हैं तो उसका यथास्थितिवादियों द्वारा इस्तेमाल होना आसान होने लगता है । यह जैवीयता की उथली समझ का नतीजा है । जैवीयता की द्वन्द्वात्मक समझ हमें अप्रासंगिक के ह्रास व विनाश और प्रासंगिक के बीज रूप हो दोबारा जन्म लेने की अनवरतता के करीब ले जाती है और विकास की जीवननुमा जटिलता और अनिश्चितता से दो-चार होना सिखाती है । इस रूप में जैवीयता भी इतिहास के अनवरत विकास का पर्याय बन जाती है ।

इतिहास के जैवीय सिद्धान्त में निहित उसकी द्वन्द्वात्मक अंतस्संभावना का विकास करना मुझे इसलिये प्रासंगिक लगता है क्योंकि इतिहास की भारतीय अवधारणा जैवीय सिद्धान्त के काफी करीब है और साथ ही समय अथवा काल की अमूर्त आध्यात्मिक धारणाओं में उलझी हुई है । सो, पहले तो इस उलझाव के परे हटाकर आध्यात्मिक और भौतिक की परस्पर-विरोधी कोटियों का अतिक्रमण करने वाले अविरोधी सार-तत्त्व तक पहुँचना होगा और फिर इसमें द्वन्द्वात्मक विकासन की अंतस्संभावना को विकसित करना होगा । यह कार्य खासी मुश्किलों से भरा है परन्तु इसे दरकिनार कर अगर हम इस विरासत को आध्यामिकता या जैवीयता की वजह से रद्द करके रूसी-यूरोपीय इतिहास की वैज्ञानिक-द्वन्द्वात्मक अवधारणाओं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को आरोपित करते जाने का वही पुराना आसान तरीका अख्तियार किये रखेंगे तो 'हमारा इतिहास' दिमाग तक रह कर 'उनके रक्त में बहते इतिहास' से कन्नी कतराता रहेगा - उसे कभी अपदस्थ करने में कामयाब न होता हुआ बात मार्क्सवादी इतिहास पर बादल मंडराने से या इतिहास की अन्तवादी व्याख्याओं से पैदा हुए खतरों को कुछ ज्यादा ही तूल दे कर भयवाद का सहारा लेने से नहीं सुलझेगी क्योंकि न्यायपूर्ण समसमाज की स्थापना के लिये तो अंततः रक्त में बहते इतिहास का विकास ही काम आयेगा। इसके लिये मैं उपर्युक्त दो विचार-धुरियाँ प्रस्तावित करता हूँ। एक है इतिहास की वर्तमानस्थता की द्वन्द्वात्मक सापेक्षिक समझ और दूसरी है इतिहास की जैवीयता की द्वन्द्वात्मक अंतस्संभावना का विकास। ये दोनों बातें एक दूसरे से सम्बद्ध है। इतिहास के इस जैव-दार्शनिक सिद्धान्त के पहले पक्ष से हम अपने इतिहास के सांस्कृतिक एवं विभाजनकारी सांप्रदायिक रूपों के बुनियादी रूप होने की वजहों को समझने की चेष्टा करेंगे और दूसरी से अपने इतिहास के समूचे रूप या संरचना को पकडते हुए उसे अतीतवाद से निजात दिलाकर भविष्यमुख कर पाने का प्रयास करेंगे।

भारत में एक अर्से तक कोई इतिहास नहीं लिखा गया। आरम्भिक इतिहास के जो थोडे बहुत विवरण मिलते हैं वे भारत यात्रा पर आये विदेशियों के हैं। बाद में यानी तुर्क-मुगल काल में अथवा अंग्रेज काल में जो इतिहास लिखे गये वे 'भारतीय इतिहास' के बुनियादी ढाँचे से मेल नहीं खाते थे, परन्तु 'इतिहास' अपना अर्थ ग्रहण करने के लिये बार बार उसी बुनियादी रूप - यानी सांस्कृतिक रूप की ओर लौटता था जिस की वजह से अंततः इन कालों के इतिहास विभाजनकारी एवं सांप्रदायिक रूप लेने को विवश हो गये। ये इतिहास खंडित सांस्कृतिक चेतना की शक्ल में आई इतिहास - चेतना से युक्त होने की वजह से सांप्रदायिक हो जाते हैं और इस तरह अंग्रेज कालीन इतिहास की परिणति भारत-पाकिस्तान विभाजन की शक्ल में होती है। इतिहास की यह विभाजनकारी प्रक्रिया अभी तक बदस्तूर जारी है क्योंकि हमारे रक्त में बहती हमारी अपनी इतिहास चेतना पंगु हो कर सामाजिक-राजनैतिक रूपांकन पाने में असमर्थ रहती है और विदेशी (औपनिवेशिक) इतिहास चेतना उसकी बेबसी की हालत का फायदा उठा कर अपना काम करती चली जाती है... यदि हम औपनिवेशिक इतिहास के सांप्रदायिक होने के कारणों की तह में जाएँ तो हम आसानी से यह बात जान सकते हैं कि इसकी वजह हमारी अपनी इतिहास चेतना का बुनियादी तौर पर सांस्कृतिक होना है। औपनिवेशिक दौर में जो इतिहास इस पर लादा गया उसकी चेतना बुनियादी रूप में समाज-राजनैतिक थी। समाज

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

-राजनैतिक चेतना वाला इतिहास सत्ता पर काबिज वर्गों के हितों से बावस्ता था अत: हमारी सांस्कृतिक चेतनावाले इतिहास द्वारा उसका परिपूर्ण आत्मसातीकरण नहीं हो पाता था। एक तरफ यह अधूरा आत्मसातीकरण और दूसरी तरफ सत्ताधारी इतिहास द्वारा उसका अपने पक्ष में इस्तेमाल करने का प्रयास – ये दोनों मिल कर इतिहास को सांप्रदायिक व विभाजनकारी बनाने की ओर अग्रसर हुए।

भारतीय इतिहास चेतना के बुनियादी रूप में सांस्कृतिक होने के संदर्भ में इतिहास की वर्तमानस्थता के एक विशिष्ट रूप से देखा जा सकता है। यह इतिहास का ऐसा आध्यात्मिक रूप है जिसका आधार एवं सारतत्त्व भौतिक है परन्तु जहाँ इस आधार का इस कदर आदर्शीकरण कर लिया गया है कि उसकी भौतिकता लगभग अग्राह्य हो गयी है। यहाँ अतीत (इतिहास) का वर्तमान के पक्ष में इस कदर आत्मसातीकरण हुआ है कि उसका लगभग लोप हो गया है और इसी कारण उसे केवल चिह्नों, प्रतीकों, कूटों की डींकोडिंग के जरिये ही कठिनाई से हासिल किया जा सकता है। आदर्शीकरण का इतना प्रबल आग्रह भौतिक उत्पादनशील शक्तियों - शिल्पियों, श्रमिकों, दासों, कृषकों, शूद्रों, आदि - को भी इसीलिये उच्च वर्गों विशेषत: ब्राह्मणों के पक्ष में लगभग पूरा खपाने का कार्य भी करता है। दूसरी तरफ जो विदेशी आक्रान्ता यहाँ आ कर अंततः काबिज होते हैं वे अपने साथ अपना इतिहास - अपने अतीत की श्रेष्ठता के भाव के साथ - लाते हैं और वर्तमान को उससे संचालित-व्यवस्थित करने की कोशिश करते हैं। इस तरह साथ ही आती है भारत में अतीत (इतिहास) और वर्तमान के दरम्यान विच्छिन्नता की स्थिति। उनके मुकाबले हीन (विषमतामूलक, जातिवादी, वर्णवादी) सामाजिक इतिहास वाले भारत का अतिविकसित सांस्कृतिक चेतनावाला इतिहास-बोध भी विदेशी इतिहास-बोध के सामने पराजित-सा महसूस करता है। यह पराजय बोध उसे अपने वर्तमान को बचाने के लिये अतीत /इतिहास/विरासत को खंगालने और अपनी अस्मिता को तलाशने व पुन:स्थापित करने की ओर ले जाता है .. सत्ता पर काबिज औपनिवेशिक इतिहास चेतना भारत के इस नये अतीतवादी इतिहास बोध का मुकाबला इस अतीत के सांप्रदायिक विभाजनकारी रूपों को शह दे कर/उभर कर करती है। इस तरह इतिहास के दो अतीतवादी रूप सामने आते हैं। एक रूप है मध्य-एशियाई और यूरोपीय जिसमें जैव (जातिगत/कुलीनता जात) श्रेष्ठता को प्रमाणित करने के लिये वर्तमान में आक्रान्ता की तरह प्रवेश किया जाता है। जैव अतीत की श्रेष्ठता शुद्ध रक्त अथवा आर्य रक्त के नाम पर लगभग सारे मध्य काल में वर्तमान की छाती पर अपनी विजय का झंडा गाडने को बेताब नजर आती है। वर्णसंकरता से खुद को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बचाती विशुद्ध क्षात्र शक्ति की संघर्ष गाथा हमारे यहाँ भी महाभारत में मौजूद है परन्तु उसे भगवद्‌गीता के माध्यम से एक गहन आध्यात्मिक वर्तमानस्थता (समभाववाली स्थितप्रज्ञता) के पक्ष में पचा लिया गया है। इस तरह पहली सदी के आसपास ही हमारा इतिहास अंतर्मुखी हो जाता हैं। अतीत का अतिशय आदर्शीकरण उसे धीरेधीरे पतनशील बनाता है और फिर वह सातवीं आठवीं सदी के बाद से लगातार एक विशिष्ट अतीतवादी इतिहास द्वारा पराज़ित व पराभूत होता चलता है। इस चुनौती का सामना औपनिवेशिकता से पराभूत भारत एक दूसरी तरह की अतीतजीविता से करता है जो उसके अतीत गौरव के पुनरुत्थान से जुडी है। औपनिवेशिकता के भी यहाँ दो रूप हैं। मध्य-एशियाई इतिहास चेतना पर्याप्त समाज-राजनैतिक ऊर्जा न होने से अंततः हमारे ही इतिहास बोध का हिस्सा हो जाती है परन्तु उसमें सांप्रदायिक विभेदकत्व एक हद तक बना रहता है। यूरोपीय अतीतवाद अपनी अति-भविष्यमुखता के कारण कभी हमारा वर्तमान नहीं हो पाता जिससे उसे यहाँ से रुख्सत होना पडता है। अतीतवादिता के दरअसल कुल मायने यही हैं कि यह वर्तमान को जीत कर भविष्य पर अधिकार करना चाहती है। मध्य एशियाई अतीत जीविता ने धीरे धीरे अपना भविष्य खो दिया इसलिये वह वर्तमानस्थ होने के करीब आ गयी लेकिन यूरोपीय अतीतजीविता अभी तक उस मरहले पर नहीं पहुँची। इसलिये अभी वह इस या उस अर्थ में विश्वविजय का सपना देख सकती है। वैसे उसके मार्क्सवादी, आधुनिकतावादी, उत्तरआधुनिकतावादी वैश्विक मॉडेल जब जब अति-भविष्यमुखी हुए हैं और अपने अपने विश्व-विजय अभियानों से जुडे हैं, परास्त ही हुए हैं। हालाँकि मार्क्सवाद के तहत वैज्ञानिक द्वन्द्वात्मक पद्धति उसे इतिहास की वर्तमानस्थता के काफी करीब लाती है लेकिन जल्दही व्यावहारिक तल पर समाजैतिहासिक सरलीकरण उसे अतीत व भविष्य की द्वन्द्वात्मकता के जाल में उलथी कर खारिज कर देते हैं और हमारे हाथों में पूँजीवाद की पराजय और समाजवादी वर्गहीन समाज की स्थापना के नारे कभी मारक हथियार बन जाते हैं तो कभी दम तोडते दिखाई देने लगते हैं। यह अतीत की वर्तमान को लाँघ कर भविष्य में प्रवेश की हडबडी की वजह से होता है।

गैर-औपनिवेंशीकरण की प्रक्रियाओं से दो चार होता भारत अपने साथ एक तो अस्मिताबोधक पुनरुत्थान वादी इतिहास चेतना ले आया है जो अब मौका पाकर अपने सांप्रदायिक चरित्र के मुताबिक-आक्रमक होना चाहती है और दूसरी तरफ उसके पास भविष्यमुखी मार्क्सवादी समाजवादी मॉडल है। ये दोनों मिल कर उसे-यूरो-अमरीकी नव-औपनिवेशीकरण का मुकाबला करने का साहस व आधार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रदान करते हैं : पहला राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक बन कर ओर दूसरा इसे तीसरी दुनिया के औपनिवेशिकता विरोधी प्रारूप का एक अहम हिस्सा बना कर आगे की ओर धकेल रहे हैं लेकिन चूँकि ये दोनों मॉडल कई अर्थों में एक दूसरे से टकराते भी हैं इसलिये इनके अंतर्विरोध जब उभरते हैं तो वे इसके विकास की ओर कदमों की जंजीरें भी बन जाते हैं। पहला मॉडल विदेशी औपनिवेशिक इतिहास चेतना का प्रतिरोध करते हुए पनपा। इसलिये उसका चरित्र कुछ सीमा तक प्रतिक्रियावादी भी है। और दूसरा मॉडल एक अर्थ में हमारा हो कर भी हमारा नहीं हो पाता क्योंकि उसकी भविष्यमुखता हमारी इतिहास चेतना के लिये अजनबी या पराई है और जिसके लिये उसे अपने महान् सांस्कृतिक अतीत को एक अर्थ में तिलांजली देनी पडती है कि वह अति आदर्शीकरण का शिकार लगता है। यही वजह है कि राष्ट्रवादी इतिहास चेतना को समाजवादी भविष्य विरासत-विरोधी लगता है और समाजवादी इतिहास चेतना को विरासत (सांस्कृतिक इतिहास) अंतर्विरोधग्रस्त। यहाँ ऐसा इसलिये हुआ है क्योंकि ये दोनों ही हमारी बुनियादी इतिहास चेतना से न तो ठीक से संपर्क साधती हैं और न ही उसके सम्यक् विकास में ज्यादा रुचि दिखाती हैं। क्योंकि विश्वसनीय रुचि का अर्थ है एक गहन दायित्व का स्वीकार और बारीक बुनियादी मुद्दोंसे उलझाने का साहस जो हमारे तमाम स्वीकृत दर्शनों/विचारधाराओं/मॉडलों को या तो अपदस्थ कर सकते हैं पर फिर हमें उन पर पुनर्विचार कर उन्हें अपनी तरह से पुनर्निमिती करने की ओर ले जा सकते हैं। यह बात ही घबराहट पैदा करनेवाली है कि हम मनु, कृष्ण, बुद्ध, गांधी, मुहम्मद या मार्क्स जैसा होने दिखने की कोशिश भी करें। लम्बे औपनिवेशिक काल ने हमारी मौलिक चिंतन क्षमता को लगभग नेस्तनाबूद करके रख दिया है।

भौतिक सामाजिक उत्पादक शक्तियों का ब्राह्मणवादी इतिहास द्वारा जो अति-आदर्शीकरण हुआ, उसने हमारे समाज को विषमतावादी (जातिवादी/वर्णवादी) बनाकर अमानवीय शोषणकारी स्थितियों की तरफ धकेल दिया। हालाँकि इस आदर्शीकरण का स्रोत समत्व-बुद्धि ही थी जों व्यावहारिक तल पर सम-सामाजिक चेतना का रूप ही ग्रहण कर सकती थी, परन्तु ऐसा हुआ नहीं। ऐसा इसलिये नहीं हुआ कि हमारी इतिहास चेतना यथार्थ का आदर्शीकरण तो करती थी आदर्श का यथार्थीकरण नहीं। आदर्शीकरण ने उसे ऐसी गहरी अनुभूति-मूलक वस्तु बना दिया, जिसका यथार्थ में अवतरण एक दुर्लभ अलभ्य वस्तु बनता चला गया। यह अवतरण मात्र अवतारी पुरुषों की उपस्थिति अथवा उद्बोधन तक सीमित होने लगा और हम समसमाज (राम राज्य) की स्थापना अथवा पुनस्स्थापना के लिये राम के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होने या उसके पुन: पुन: अवतार लेने की उम्मीद या प्रतीक्षा में गर्क होते रहे। कृष्ण के मुँह से हमने भगवद्गीता में पुन: पुन: अवतरित होने की आश्वासन भी ले लिया। हमारी समसमाज की अवधारणा रामराज्य, शिवपुरी, बेगमपुरा (रैदास-वाणी से), त्रिपुर, आनन्दधाम आदि के रूप में आधुनिक काल तक (कामायनी के कैलाशधाम और गांधी के रामराज्यतक) अबाध रूप में विकसित, प्रवाहित होती आई है। ठीक से समझें तो हम चौथीं पाँचवीं शती तक की इतिहास चेतना को वैदिक आदिम (भौतिक-दैवीय रूप) धरातल से ऊपर उठते हुए यथार्थ के आदर्शीकरण की प्रक्रिया के रूप में देख सकते हैं। उसके बाद संक्रमण की स्थितियाँ हैं जो सातवीं आठवीं शती में यथार्थ के मायावादी-मिथ्यावादी रूप के प्रकट होने से अतिआदर्शीकरण के चरमोत्कर्ष (आदि शंकराचार्य ; ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या) को छू कर आदर्श के यथार्थ में अवतरण की ओर मुड जाती हैं। इस तरह आदर्श का आंशिक यथार्थीकरण ही होता है जो अवतारवाद और भक्ति के विविध रूपों में भक्ति आचार्यों से ले कर पूरे भक्ति आंदोलन तक व्याप्त है। यह आंशिक यथार्थीकरण हमें इस काल में सामाजिक विषमता (जातिवाद/वर्णवाद) विरोधी सांस्कृतिक प्रतिरोध तक ले जाता है। गुरु गोविन्द सिंह तक आते आते इसके राजनैतिक प्रतिरोधक रूप भी प्रकट होते हैं। और गांधी में आधुनिक रूप। इस तरह यह तमाम सफर आदर्श के यथार्थीकरण की दिशा में होता प्रतीत होता है। अब कहीं आ कर हमने मार्क्सवाद के सहारे से और समाजवादी समाज की स्थापना से सजग सम्बद्ध होने से इस यथार्थीकरण की प्रक्रिया को उसके चरमोत्कर्ष तक पहुँचाने की कोशिश करनी आरम्भ कर दी है। परन्तु हो यह रहा है कि जिस तरह आदि शंकराचार्य ने जगत् के मिथ्यात्व की बात दार्शनिक तट पर उठा कर उसका समग्र आदर्शीकरण करने की कोशिश की थी उसी तरह आज के मार्क्सवादी आदर्श के मिथ्यात्व से आश्वस्त हो उसका सम्पूर्ण यथार्थीकरण करने की कोशिश करते हैं। इस सोच के तहत कबीर की जातिविरोधी ब्राह्मणविरोधी चेतना तो उन्हें रास आती हैं परन्तु उसकी भक्ति उन्हें उस दौर का विरोधाभास या अन्तर्विरोध प्रतीत होती है। और आदि शंकराचार्य से बडा दूसरा दुश्मन दिखाई नहीं देता। इसी तरह यदि बुद्ध एक अर्थ में कुछ स्वीकार्य लगते हैं तो शून्यवादी बुद्धवादी कटघरे में खडा करने लायक प्रतीत होते हैं। यह सोच विवेकानन्द, अरविन्द आदि के नव-आदर्शीकरणों की वज़ह से उन्हें नवजागरण का श्रेय देने से हिचकिचाती है। यह सोच पर्याप्त रूपेण द्वन्द्वात्मक सोच नहीं है। यह इतिहास के इकहरे सांस्कृतिक सरलीकरण का प्रयास है जो यथार्थ की उथली समझ से उपजता है। इसके उलट होना यह चाहिये

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कि हम आदर्श के यथार्थीकरण की प्रक्रियाओं को बारीकी से समझते हुए अवतारक व भक्ति की पुनर्व्याख्या करें और यथार्थीकरण की प्रक्रिया को तेज करते हुए अपनी पूरी विरासत को अपने पक्ष में पचा कर आत्मसात करते हुए अपने तरीके से विकसित करें। खण्डन मन्डन के अभाव मे एक दृष्टिहीन उत्तेजना का पर्याय हो जाता है और हम 'अंधे अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पडन्त' (कबीर) वाली स्थिति में जा गिरते हैं।

इतिहास की वर्तमानस्थता इतिहास को प्रतीकों में ढाल देती है तब इतिहास प्रतीक-कुंजियों की तरह उद्‌बोधनकी वस्तु बन जाता है जिसे उपलब्ध करना पडता है। इस तरह मंत्रों का रहस्य इस बात में विहित प्रतीत होता है कि वे प्रतीक अथवा कूट-निबद्ध इतिहास होते हैं। इतिहास को इस तरह का रूप लेने की आवश्यकता इस वजह से होती है कि वह अति-व्यापक होता है। इतिहास का आरंभिक रूप भौतिक शक्तियों के अंतस्संबंधों व अंतस्संघर्षों के साथ साथ जीवन के उद्‌भव व विकास का जैव इतिहास होता है। मंत्रों में भौतिक शक्तियाँ देव-रूप हैं और जैव विकास प्रक्रिया अथवा ज्ञान-प्रविधि की तरह है जिसे हम उस मंत्र का ऋषि कहते हैं। इस तरह वैदिक सूक्त एक जटिल इतिहास के कूट, निबद्ध नक्शों की तरह सामने आते हैं। दरअसल वर्तमान की गहराइयों में छिपा हमारा ऐतिहासिक विकास इसी तरह की जटिल अभिव्यक्ति पा सकता है — हालाँकि यह जरूरी नहीं कि हम वेदों को इसी रूप में रचित या व्याख्यायित मानें। होता यह है कि इतिहास के जीवन्त आकलन समय के विराट विस्तार में धीरे धीरे अपनी भौतिक सामाजिक तथ्यपरकता से मुक्त हो कर मिथक अथवा मंत्र (मनन करते हुए तर जाने के उपक्रम) बन जाते हैं तब इन्द्र वृत्र संग्राम प्रतीक रूप में आत्मा और मनोविकारों का संग्राम बन सकता है - इसमें कोई कठिनाई नहीं है। वेदों में संसार-वृक्ष पर भोक्ता और साक्षी दोनों मौजूद हैं — यह एक तरह से सामाजिक इतिहास (भोक्तृव) और जैव-आध्यात्मिक विकास (साक्षीभाव) दोनों की स्वीकृति का आभास देता है। यम या सूर्य और पृथ्वी की आकलंन भी हैं और आत्म-संयमी पुरुष व लुभानेवाली स्त्री की कथा भी. इस तरह हम देख सकते हैं कि आदिम इतिहास चेतना में (उनके लिये न भी हो, हमारे लिये कम- अज कम) भौतिक एवं जैव इतिहास दोनों किसी वर्तमानस्थ उद्‌बोधन द्वारा प्राप्य हैं। बाद में हमें कम से कम तीन विशिष्ट सांस्कृतिक पद्धतियाँ मिलती हैं। जिन में इतिहास की वर्तमानस्थता के विविध रूप मौजूद हैं। पहली शिव के डमरु की द्वन्द्वात्मकता में है जहाँ मध्य भाग (वर्तमान) से दो सूत्र निकल एकसाथ विरोधी दिशाओं में (भूत - भविष्य) में जाते हैं और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कभी इस ओर से तो कभी उस ओर से 'नाद' करते हैं । दूसरी का संबंध पतंजली की प्रति - प्रसव की धारणा के साथ है । यह इतिहास की जैव धारणा है । कालान्तर में योग पद्धतियों के बहुत अधिक प्रचलित होने से पतंजलि निरन्तर नये नये रूपों में प्रासंगिक बने रहे । यह धारणा इस तथ्य की स्वीकृति में छिपी है कि हमारा समस्त जैव - इतिहास हमारे भीतर ही मौजूद है (आज डी. एन. ए. कूटों का पता चलने पर और रीढ और मस्तिष्क के रहस्यों से अधिक परिचय होने पर पतंजलि की बहुत सी धारणाएँ खाली हैरानी में डालती हैं) इसलिये अपने (वास्तविक रूप अथवा इतिहास) के परिचय के लिये हमें अपना प्रति-प्रसव करना पडता है — पीछे की ओर लौटते हुए वह सब जिस से हो कर हम अब तक गुजरे हैं, उसे जानना पडता है । ऐसा करने पर हम अपनी अज्ञान - ग्रंथियों को छिन्न भिन्न कर सकते हैं । यह विधि वर्तमान में समस्त इतिहास के गहराई में मौजूद होने के तथ्य की ओर ले जाती है । तिसरी पद्धती बुद्ध के जाति-स्मरण की है जो पतंजली का विकास या विस्तार प्रतीत होती है ; यह हमें हमारे पिछले जन्मों की स्मृति में प्रवेश कराने की विधि है । पिछले जन्म न कहें — सामूहिक सांझा अचेतन कह लें तो बेहतर होगा - जिसमें अब तक का घटित सब कुछ पडा है । कृष्ण की इतिहास पद्धति को मैं ने यहाँ मूल-पद्धतियों में इसलिये शामिल नहीं किया क्योंकि उनमें इन सब का समाहार एवं विकास है । वे अपने भीतर मौजूद विराट रूप को प्रकट करते है जिसमें भूत - भविष्य दोनों वर्तमानस्थ अनुभव की तरह दृश्य हो जाते हैं । वस्तुत: यह विराट रूप उनका इतिहास-रूप ही है । इस तरह हमारे यहाँ इतिहास को समाज - राजनैतिक घटनाओं के कालक्रमिक आकलन की बजाये किसी वर्तमानस्थ विराट अनुभव की तरह देखा गया और उसे बारंबार उद्‌बुद्ध करने, उपलब्ध करने की बात ही नहीं की गयी, उसके लिये जाने कितनी विधियों-प्रतिधियों की विकास भी किया गया । हालाँकि इससे इतिहास की तथ्यपरकता की, उसके भौतिक शक्ति होने की संभावना की हानि हुई । इससे कृष्ण-बुद्ध-पतंजलि के काल के बाद के दौरों में इतिहास के भौतिक-सामाजिक-रूप की अवहेलना होने लगी और हम शून्य अथवा यथार्थातिक्रमी ब्रह्म की धारणा का विकास करने को प्रवृत्त हो गये । क्यों हुए? संभवत: इसके पीछे विदेशी आक्रान्ताओं के द्वारा बारंबार पददलित होने की कोई भूमिका रही होगी । हम विराट समाज - राजनैतिक चुनौतियों की सामना करने में इसलिये असमर्थ होने लगे क्योंकि इतिहास के समाज-राजनैतिक रूपों का विकास करने की बजाय हमने उसे सांस्कृतिक धारणा के तौर पर विकसित करना शुरू कर दिया और जब सांस्कृतिक निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण होने के बावजूद विषमतामूलक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समाज में सामाजिक शक्ति की तरह विकास न पाते अथवा विदेशी आक्रान्ताओं के द्वारा पराजित हो जाते तो हम समाज-राजनैतिक स्तर को नकारने अथवा उसकी उपेक्षा करने की ओर बढते । होना उलट चाहिये था कि हम एक समसमाज की निर्माण करते हुए अपनी समाज-राजनैतिक शक्ति का संचय करते, जब कि हम उसे ही रुकावट मानकर (मिथ्या माया के खेल की तरह) नकारने लगे। इस तरह हमारा इतिहास वर्तमानस्थ न रह कर वर्तमान की अमूर्त अनुभूति गत सामर्थ्य मात्र बन गया। इस से व्यक्तिगत रूप में समाधि की उपलब्धि तो हो सकती थी परन्तु इस के परिणाम स्वरूप सामूहिक रूपांतर के लिये द्वार न खुल पाये । आदि शंकराचार्य का ब्रह्म पारमार्थिक सत्य के तल पर पूर्ण उद्भासित होता था परन्तु व्यावहारिक सत्य के तल पर उसे अडचन होती थी । वह माया जो उसी की शक्ति अथवा उसका आवर्त मात्र थी, अपने अंतर्विरोधों सहित स्वीकार होने लगी । उसके अंतर्विरोधों को जैसे उसका स्वरूप ही मान लिया गया जिनका रूपांतर संभव न जान कर उनके अतिक्रमण मात्र की संभावना का विकास किया गया । इस तरह इतिहास की वर्तमानस्थता का लोप होने लगा और उसकी जगह वर्तमान की इतिहास हीनता या रहितता की बात आने लगी। वर्तमान के अनुकूल इतिहास का अमूर्त अनुभूतिगत रूपांतर व्यक्तिगत तौर पर तो संभव था परन्तु सामूहिक साँझे तौर पर तो ऐसा संभव नहीं हो सकता था । इसलिये भक्ति की अवधारणा में ब्रह्म के अवतरण की बात प्रकट हुई जो इतिहास की भौतिक -सामाजिक शक्तियों के रूबरू खडा हो कर संघर्ष करता हुआ उन्हें रूपांतरित कर सकता हो । इस स्थिति में इतिहास की वर्तमानस्थता व्यक्ति (अवतारी इतिहास- पुरुष) के प्रतीक में ढल कर सामने आती है जिससे भक्ति /प्रेम/समर्पण के माध्यम सें संपर्क साधा जा सकता है । गुरु गोविन्द सिंह तो ऐसे संघर्षशील अवतारी पुरुषों का पूरा इतिहासागार ही रच डालते हैं । परन्तु भक्ति काल से ले कर अंग्रेज काल तक इस सांस्कृतिक समाधान के सामने निरन्तर यह दिक्कत बनी रहती है कि कैसे राम एवं मुहम्मद अथवा अल्लाह की तात्त्विक एकता स्थापित की जाय और रक्त में बहते (वर्तमानस्थ) इतिहास के सांप्रदायिक विभाजन से बचा जाय । अब जो स्थिति सामने आई उस में केवल 'ना को हिन्दू ना मुसलमान' की चेतनावाला व्यक्ति ही अपने लिये एक अखण्ड अविभाजित इतिहास को उपलब्ध कर सकता था । लेकिन इस स्तर तक उठने, रूपांतरित होने वाले व्यक्ति कितने हो सकते थे? यह बात इसलिये विचारणीय हो जाती है कि अपने इतने यत्नों के बावजूद गांधी अंतता भारत के सांप्रदायिक विभाजन को रोक नहीं पाते । दूसरी तरफ आजाद भारत में वैज्ञानिक द्वन्द्वात्मक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समझ के विकास के साथ हम जिस समाज-राजनैतिक इतिहास के रूबरू खडे हो गये है, उसके साथ दिक्कत यह है कि वह इतिहास हमारा वर्तमानस्थ अनुभव बन कर रक्त में प्रवाहित नहीं होता, हमारी श्रद्धाएँ नहीं जगाता, ऐसे प्रतीकों / कूटों / मंत्रों में नहीं ढलता जिन का उद्बोधन संभव हो सके ।

लेकिन ऐसा क्यों हुआ कि इतिहास की सांस्कृतिक वर्तमानस्थ रूप सांप्रदायिक विभाजन में खण्डित होने के बाद विकसित नहीं हो पाता और इस स्थिति का फायदा कुछ राजनैतिक दलों को मिलता है जो बिना किसी गहरी सांस्कृतिक दृष्टि के रामराज्य का उथला इस्तेमाल कर के ही जन का ध्यान खींचने में सफल होने लगते हैं । संभवत: ऐसा इसलिये हुआ कि हमने इतिहास के सांस्कृतिक वर्तमानस्थ रूप के वैज्ञानिक द्वन्द्वात्मक विश्लेषण में रुचि नहीं ली और उसका विकास करने की बजाय उसे सरलीकृत सामाजिक इतिहास में विभाजित करना चाहा । हमने उसमें शोषक और शोषित के ध्रुवीकरणों को खोजा अथवा आरोपित किया और इस तरह इस सांस्कृतिक इतिहास चेतना को शोषक ब्राह्मणवादी और प्रगति कामी खेलों में आमने सामने रख दिया । इस कसौटीपर किसी ने तुलसी को स्वीकार किया और किसी ने उसे गालियाँ दीं । कोई बुद्ध के साथ हो गया और कृष्ण को वर्णवादी कह कर नकारने लगा । इस तरह के समाजैतिहासिक सरलीकरण संस्कृति की वैज्ञानिक व्याख्या करने में असमर्थ होने से धीरे धीरे केवल बौद्धिक वर्ग के कौतूहल की वस्तु बने रहे और पूरी बात अकादमिक हो कर निपट जाने की गवाही देने लगी । हमने कभी जिक्र नहीं की कि हम कैसे सांप्रदायिक विभाजन को पाटनेवाली अखण्ड अविभाज्य सांस्कृतिक इतिहास दृष्टि और परंपरा को खोज निकालें और उसका विकास करें? सूफी बुल्लेशाह जैसे लोग इसकी फिक्र करते थे जो अपनी चेतना को 'विच्च मसीत समाज गुजारे, बुतखाने जा वडदा' के धरातल तक उठाने में कामयाब हो पा रहे थे । हमारे पास तो और बडी वजहें थीं । हम जानते थे कि यह सांप्रदायिक विभाजन औपनिवेशिक चेतना को बरकरार रखता है, हमें विभाजित कर हमारी समाज-राजनैतिक शक्ति को कुंद करता है और इसके विरोध में खडे हो एक पूर्ण अखण्ड राष्ट्रीय व्यक्तित्व का निर्माण करने का मतलब होगा - विश्व साम्राज्यवाद के खिलाफ खडे होने का, गैर औपनिवेशीकरण की प्रक्रियाओं को एक मुकाम तक पहुँचने का साहस दिखाने के लिये जगह पाना । राम, कृष्ण, पतंजलि, बुद्ध, शंकराचार्य, कबीर, फरीद, नानक, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, गांधी आदि की विरासत के प्रगतिशील सांप्रदायिकता विरोधी समसामाजिक जाति-वर्ण-विरोधी चरित्र का, ऐसे तत्त्वों का विकास विस्तार करना लाजिमी था । इस तरह के विकास

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में उनके सामाजिक आंतर्विरोध विगलित हो कर एक व्यापक प्रगतिकामी इतिहास चेतना का हिस्सा हो सकती है। ऐसा करना इसलिये संभव हो सकता है क्योंकि इन सांस्कृतिक नायकों के व्यवहार में एक समाज-राजनीति-अतिक्रमी चेष्टा मौजूद है जो इन्हें त्याग, तप, साधना की ओर ले जाती है और सुविधाभोगी होने से बचाती हुई वर्गान्तरित करती है। ऐसा नहीं कि उनके समाज-राजनैतिक अंतर्विरोधों की तरफ ध्यान ही न दिया जाये, लेकिन यकीनन उनकी वजह से उनके अधूरे रह गये कार्यों के विकास की बात हमें एक सकारात्मक दृष्टिबंध में लाती है। नकार और सकार की संतुलन साधे बिना हमारे लिये विकास का कोई उपाय नहीं बनता है। नकार बहुत हो ली, अब सकार की गहन चुनौती और दायित्व का बोझ उठाना होगा।

कुल मिलाकर अब हम इस भारतीय इतिहास चेतना के रूपाकार को उसके विकासात्मक रूप में पकड सकते हैं। यह चेतना चतुर्युगी चक्रीय ह्रासपरक चेतना मानी जाती रही है। लेकिन क्या सचमुच?

बात यदि सांस्कृतिक तल पर मौजूदा दौर के कलियुग होने की है तो वह ह्रासोन्मुख नहीं, सीधे विकासोन्मुख समय है क्योंकि उससे हो कर तो हमें सतयुग में प्रवेश करना है। विकासोन्मुखता के अभाव में तो ऐसा नहीं हो सकता कि हम अचानक इतिहास के सर्वोच्च सर्वोत्कृष्ट काल या दौर में प्रविष्ट हो जायें। ह्रास की पतनशीलता की बात हमारी औपनिवेशिक अथवा संकटकालीन धारणा है जिससे छुटकारा पाना संभव है। सतयुग की अगर तमाम धारणाएँ व व्याख्याएँ ध्यान से देखी जाएँ तो वे एक वर्गविहीन समतामूलक न्यायपूर्ण मुक्तिदायक समाज की धारणाएँ हैं। क्या यही हमारा वैज्ञानिक द्वन्द्वात्मक हासिल भी नहीं है? तब इस धारणा से परहेज क्यों? क्यों नहीं इसका भरपूर इस्तेमाल कर हम एक नये समाज व इतिहास को रचाने के लिये एक विकसित सांस्कृतिक चेतना के निर्माण की ओर अग्रसर होते? वैसे भी जिस सांस्कृतिक चेतना की विरासत हमारे पास है वह अपने आप में ही एक सामाजिक शक्ति है – जन जन के रक्त में बहने वाली शक्ति और उन के संवहन के केन्द्र हैं धर्मस्थल जिनकी बौद्धिक सजग व्यक्तियों द्वारा की गयी अपेक्षा ने उन्हें सामान्य/नासमझ/शातिर/स्वार्थी तत्त्वों के हाथों में दिया है और शिक्षण-केन्द्र तो पहले से ही निरीअकादमिक कसरत कर हो कर रह गये हैं। मार्ग प्रशस्त है, उपयोग करना बाकी है.।

८१३/७ हाऊसिंग बोर्ड कालोनी,
जी.टी.बी. नगर, जालन्धर – १४४००३

विनोद शाही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय संस्कृति तथा तकनीकी समाज : एक मूल्यपरक विश्लेषण

प्रस्तुत आलेख में मैंने दार्शनिक धरातल पर तकनीकी समाज एवं भारतीय संस्कृति के संबंध को दर्शाया है । प्राय: सामान्य लोगों का यह विचार बनता है कि भारतीय संस्कृति और तकनीकी समाज एक दूसरे के विरोधी हैं । भारतीय संस्कृति को जीवित रखने के लिए हमें तकनीकी समाज को भूलना पडेगा । किंतु मेरे दृष्टिकोण से तार्किक धरातल पर तकनीकी समाज एवं भारतीय संस्कृति परस्पर विरोधी नहीं हैं । भारतीय संस्कृति समग्रता की संस्कृति है । यह तकनीकी समाज को सांस्कृतिक मूल्यों के साथ संबद्ध करती है । सर्वप्रथम तकनीकी शब्द का विश्लेषण करते हुए इसे मैंने प्रोद्योगिकी के अर्थ में लिया है ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि तकनीक (Technique) तथा तकनीकी (Technology) में सूक्ष्म अन्तर है । वस्तुत: तकनीक की व्यवस्था को तकनीकी कहते हैं । प्रारंभिक समाज में तकनीक थी, किनतु सुव्यवस्थित तकनीकी नहीं थी । आज तकनीक के विकसित रूप को तकनीकी का नाम दिया जाता है । मैंने तकनीक एवं तकनीकी शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया है । परन्तु साधारण बोलचाल की भाषा में तकनीक और तकनीकी को समानार्थक रूप में प्रयोग किया जाता है ।

यहाँ तकनीकी समाज (Technological society) जैसी अभिव्यक्ति का स्पष्टीकरण आवश्यक है । तकनीकी समाज किसी ऐसे विशेष समाज की ओर संकेत नहीं करता है जो तकनीकी दृष्टि से प्रगतिशील है । इसका अर्थ तकनीकी मनोवृत्ती से है । तकनीकी मनोवृत्ती आधुनिक समाज का द्योतक है । वर्तमान भारतीय सभ्यता की जड विज्ञान तथा तकनीकी में है । यह तकनीकी को सर्वोपरि मानता है । यह जीवन के हर क्षेत्र में सफलता को महत्त्व देता है । तकनीकी समाज का अर्थ ''मशीनी समाज'' के अर्थ में नहीं समझना चाहिए । १९वीं शताब्दी में यूरोप का औद्योगिक समाज ''तकनीकी समाज'' का तात्पर्य ''मशीनी समाज'' से समझता था। परन्तु भारतीय परिप्रेक्ष्य में तकनीकी समाज मशीनी समाज से भिन्न अर्थ में लिया गया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है । औद्योगिक समाज में मशीन मानव के विलगाव (Alienation) का कारण माना जाता था । किन्तु तकनीकी समाज मशीन को समाज के साथ जोडकर देखता है । मशीन मानव को विलगाव की त्रासदी देता है; परन्तु तकनीक मानव को मुक्ति देता है । इस तरह "तकनीकी समाज" उस मनोवृत्ति का द्योतक है जो आधुनिक मानव की जीवन शैली तथा उसके सामाजिक व्यवहार को प्रभावित करता है ।

भारतीय संस्कृति मूल्यों का संघात है जो भारतवासियों को अत्यंत प्रिय है । मूल्य के दो स्तर हैं- एक आध्यात्मिक और दूसरा लौकिक । आध्यात्मिक मूल्य एक आदर्श को ध्यान में रखता है । लौकिक मूल्य हमारी अभिरुचि एवं चुनाव से संबंधित है जो सदैव परिवर्तनशील है । जब हम भारतीय संस्कृति की बात करते हैं तो हम भारतीय नैतिक मूल्य की भी बात करते हैं । मूल्यपरक विश्लेषण का अर्थ है जीवन एवं समाज के मूल्यों से संबंधित विश्लेषण । मूल्यपरक का अर्थ किसी एक विशिष्ट मूल्य से नहीं बल्कि सामान्य मूल्य से है । मूल्य संबंधी शास्त्र को अर्थविज्ञान (Axiology) भी कहते हैं । इस आलेख में तकनीकी समाज एवं भारतीय संस्कृति की व्याख्या एवं विश्लेषण अर्थ-विज्ञान के दृष्टिकोण से की गई है। मानव जीवन के सभी स्तर पर मूल्य की महत्ता है । व्यक्ति तथा समाज की क्रिया-कलाप किसी न किसी तरह मूल्ययुक्त होती हैं । मान प्रमुखतः मूल्यचेतन एवं मूल्ययुक्त प्राणि है । व्यक्ति और समाज किसी न किसी आदर्श या मूल्य से जुडा रहता है । मानव मूल्यों में विश्वास करता है तथा नये मूल्यों का सृजन भी करता है । यह तथ्य हमें संस्कृति एवं तकनीकी समाज के मूल्यपरक विश्लेषण करने के लिए प्रेरित करता है ।

वर्तमान मानव समाज एक विरोधाभास से ग्रसित है । विरोधाभास इस बात को लेकर है कि यदि मानव समाज तकनीकी स्तर पर प्रगतिशील है तो अशुभ है तथा यदि वह तकनीकी स्तर पर पिछडा हैं तो भी अशुभ है । तकनीकी प्रगति अशुभ है क्योंकि मानव अपने मानवपन को खो देता है । तकनीकी पिछडापन भी अशुभ है क्योंकि मानव गरीबी रेखा से उपर बिना तकनीकी के उठ नहीं सकता है । यह सर्वविदित है कि अविकसित तकनीकी एक प्रकार का अशुभ है, क्योंकि यह पिछडेपन का द्योतक है । नये तकनीक का आविष्कार पिछडेपन से मुक्ति के लिए किया जाता है । इस तरह तकनीकी मानव त्रासदी से मुक्ति का साधन है । परन्तु ठीक इसके विपरीत तकनीकी विकास मानव समाज में व्याप्त वर्तमान अशुभ एवं बुराई का कारण है । यद्यपि तकनीकी क्षेत्र में हमने प्रगति की है परन्तु एक दार्शनिक इनकार नहीं कर सकता है कि तकनीकी विकास के साथ-साथ सामाजिक बुराइयाँ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी बढी हैं। यह सत्य है कि तकनीकी समाज अमानवीयकरण एवं सांस्कृतिक पतन का कारण है, तकनीक ने मानवीय संबंधों को छिन्न-भिन्न कर दिया है। परन्तु इसका भावात्मक पक्ष यह है कि संचार तकनीकी ने पूरे विश्व को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया है। इस तरह से मानवीय संबंध तथा जीवन-मूल्य में परिवर्तन आया है। तकनीकी को हम मानव कल्याण के लिए प्रयुक्त करते हैं। आर्थिक संकट से छुटकारा पाने के लिए भी तकनीकी विकास आवश्यक है। पोखरण में "न्युक्लीअर एक्सप्लोजन" के कारण भारत अपने को " न्यूक्लीअर पावर" के रूप में स्थापित कर चुका है। तकनीक को आत्मसुरक्षा एवं विकास के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। पूर्व प्रधानमंत्री स्व. लालबहादुर शास्त्री ने कहा था, "जय जवान, जय किसान"। वर्तमान प्रधानमंत्री श्री. अटलबिहारी वाजपेयी ने उसमें "जय विज्ञान" जोड दिया है। उन्होंने इस नारो को एक नया आयाम दिया है। यह भारत की वर्तमान वैज्ञानिक एवं तकनीकी नीति पर प्रकाश डालता है।

तकनीकी समाज में तकनीक मानव एवं समाज के विकास की दिशा निर्धारित करती है। वह मूल्यों को भी निर्धारित करती है। परन्तु मेरी समझ में तकनीकी अपने आप में मूल्ययुक्त नहीं है। तकनीकी नैतिकता-निरपेक्ष और मूल्यमुक्त है। तकनीकी का लाभ उसके तकनीकी प्रयोग एवं उपयोग में ही है। तकनीक का प्रयोग उसका मूल्य निर्धारित करता है। तकनीकी समाज से संबंधित कोई मूल्यपरक निर्णय हम नहीं ले सकते। हम यह नहीं कह सकते कि तकनीकी समाज अच्छा है या बुरा है। महात्मा गांधी जो स्वदेशी संस्कृति के पुरोधा माने जाते हैं उन्होंने अपनी पुस्तक "हिन्द स्वराज" में कहा है कि भारत तकनीकी एवं जीवन रक्षक दवायें विदेश से मँगा सकता है। यह हमारी स्वदेशी संस्कृति को प्रभावित नहीं करता है क्योंकि इसके पीछे भारत एवं भारतीय जनता का कल्याण निहित है। इस तरह स्वदेशी संस्कृति के अनुकूल यह संभव है कि हम अति आवश्यक विदेशी तकनीकी तथा जीवन रक्षक दवाओं का आयात करें तथा उसे मानव कल्याण से जोडकर अपनी स्वदेशी संस्कृति के अनुरूप ढाल दें।

भारतीय मानसिकता संस्कृति-आबद्ध है। हम संस्कृति क्षेत्र में काफी धनी है। भारतीय संस्कृति एवं तकनीकी समाज के साथ अनेक प्रश्न जुडे हैं। भारतीय संस्कृति एवं तकनीकी समाज का परस्पर विरोध तथा तकनीक का भारतीय सामाजिक जीवन पर प्रभाव एक विवादास्पद विषय रहा है। इस आलेख का मुख्य बिन्दु यह विचार करना है कि तकनीकी प्रगति का भारतीय संस्कृति एवं अस्मिता पर क्या प्रभाव पडा है। हम २१ वीं सदी में प्रवेश की तैयारी कर रहे हैं। इस सदी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में मानव बिना तकनीक के नहीं रह सकता है। २१वीं सदी का सामाजिक जीवन एवं संबंध तकनीकी रिश्तों पर आधारित होगा। इस तकनीकी विकास की विडम्बना यह है कि जो आज प्रासंगिक है, हो सकता है कि वह तकनीक कल प्रासंगिक न हो। यदि हम नयी पीढी को आगे आनेवाले युग के लिए तैयार नहीं कर पाते हैं तो हमारी नयी पीढी पीछे छूट जायेगी।

तकनीक जब सामाजिक क्रिया-कलापों के साथ जुडती है तब वह मूल्ययुक्त होती है। वस्तुत: तकनीक समाज में ऐसी अवस्था पैदा करती है जिससे नयी जीवन शैली तथा नये मूल्य उत्पन्न होते हैं। तकनीक के परिवर्तन के साथ हमारे जीवन मूल्य भी बदल जाते हैं। तकनीक मानवता की सेवा का साधन है। मूल्यमुक्त कहने का तात्पर्य यह है कि तकनीक अच्छी या बुरी नहीं होती है। यह एक साधन है, साध्य नहीं। इसका उपयोग इसे अच्छा या बुरा बना देता है। यदि तकनीक मानव-कल्याण के लिए प्रयुक्त होती है तो वह अच्छी है और यदि तकनीक मानव विनाश के लिए प्रयुक्त होती है तो बुरी है। तकनीक नये शब्दों को गढती है तथा नये अर्थ देती है। इस तरह तकनीक नये मूल्य सृजित करती है। यह नयी भाषा का निर्माण करती है। तकनीकी हमारे मूल्य-सिद्धान्त को प्रभावित करती है। तकनीक हमारी संस्कृति को भी प्रभावित करती हैं। नयी तकनीक उत्पन्न होने से नये मूल्य सृजित होते हैं। मानवीय रिश्तों को प्रगाढ करने में तकनीक हमारी सहायता करती है। तकनीक मानव संस्कृति का एक अंग है। मानवीय संस्कृति के विकास का एक महत्त्वपूर्ण कारक तकनीक है। यद्यपि तकनीक अपने आप मूल्यमुक्त है, किंतु यह ऐसी अवस्था का सृजन करती है जिससे नये मूल्यों का प्रादुर्भाव होता है। नये मूल्यों की सृजना से कुछ प्राचीन मूल्यों को त्यागना भी पडता है। उदाहरण के लिए बर्ट्रेंड रसेल "कार्यकुशलता" तथा "गति" जैसे मूल्यों की उत्पत्ति तकनीकी समाज की देन मानते हैं। मूल्य तथा नैतिक मूल्य में अन्तर है। "कार्यदक्षता" एक मूल्य है, किंतु यह एक नैतिक मूल्य नहीं है। "कार्यदक्षता" एवं "गति" इसलिए मूल्य हैं क्योंकि वे जीवन के लिए मूल्यवान् हैं। तकनीकी परिवर्तन के साथ सांस्कृतिक मूल्यों में भी परिवर्तन होता है। बी.डी. नाग-चौधरी ने कहा है, "मूल्य क्षरित होते हैं, मूल्य परिवर्तित होते हैं। समाज नये मूल्य को अंगीकार करता है"।[१] इस तरह सांस्कृतिक एवं मानवीय प्रगति तकनीकी की प्रगति से निर्धारित होती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि तकनीक हमारी संस्कृति को प्रभावित करती है। इस संदर्भ में लेसली वाइट ने अपनी पुस्तक "द इव्यूल्यूशन ऑफ कल्चर" में "टेक्नालोजिकल डिटरमिनेशन" के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। वाइट के अनुसार "तकनीक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मात्र सांस्कृतिक विकास को ही निर्धारित नहीं करती बल्कि समाज के निर्माण की आधारशिला डालती है ।''[२] तकनीकी समाज 'टेक्नालोजिकल डिटरमिनेशन'' के सिद्धान्त को स्वीकार करता है । 'तकनीकी नियंत्रणवाद' मानता है कि सामाजिक परिवर्तन का निर्धारक तकनीकी है । टालकाट पार्सन का मत है कि तकनीक एक क्षमता है, जो भौतिक पर्यावरण में आवश्यक परिवर्तन तथा नियंत्रण मानवीय आवश्यकता तथा माँग के अनुकूल करता है।[३] यदि हम यह कहते हैं कि तकनीक समाज को परिवर्तित करती है तो यह कहने के बराबर है कि तकनीक हमारे मूल्य सिद्धान्त में परिवर्तन करती है । यह सत्य है कि तकनीक हमारे समाज की देन है। मूल्यों का निर्माण भी समाज करता है । आज के भारतीय तकनीकी समाज का आधार प्राचीन भारतीय संस्कृति है । प्राचीन भारतवर्ष में आरंभ से ही तकनीक का प्रयोग होता रहा है । चिकित्साशास्त्र में तो हमारे देश की तकनीक एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है । वस्तुतः सामाजिक विकास का प्रश्न तकनीकी और संस्कृति से संबंधित है । साधारणतः विकास का अर्थ हम आर्थिक विकास से समझते हैं । भारतीय समाज में विकास का अर्थ मात्र आर्थिक विकास नहीं है । विकास का अर्थ समग्र विकास है । समग्र विकास का तात्पर्य है विकास बहुआयामी प्रक्रिया है । विकास आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक आयामों को समग्रता में देखता है । विकास एक महत्त्वपूर्ण कारक है जिससे लोक-कल्याण संभव है । विकास एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है । एक ऐतिहासिक स्तर से दूसरे ऐतिहासिक स्तर तक जाना विकास कहलाता है । तकनीक का अभ्युदय बिल्कुल समाज से कट कर नहीं हुआ है । तकनीकी विकास भी एक सांस्कृतिक कार्य है । तकनीक सीधे हमारे सांस्कृतिक मूल्यों को तथा समाज में रहनेवाले मनुष्यों के व्यवहार को प्रभावित करती है । तकनीक हमारी नयी जीवन पद्धति एवं मूल्यों को सृजित करती है । मूल्य की अवधारणा को तकनीक परिमार्जित करती है । यह माना जाता है कि जो समाज अधिक उत्पादन करता है और अधिक उपभोग करता है, वह उतना ही समृद्ध समाज है । यह उपभोगतावादी समाज का लक्षण है । तकनीकी समाज एक अर्थ में उपभोगतावादी समाज है । समाज को विकास के लिए तैयार करना एक ऐतिहासिक आवश्यकता है । भारतीय समाज के विकास और प्रगति के लिए तकनीकी हस्तांतरण एक कारगर विधि हो सकती है । परन्तु स्वदेशी संस्कृति का आग्रह है कि विदेशी तकनीकी हस्तांतरण के स्थापन पर भारतीय सांस्कृतिक परिवेश के अनुकूल तकनीकी का विकास होना चाहिए । अपने देश की भूमि पर ही विकास के बीज बोना श्रेयस्कर होगा ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विकास कोई ऐसा पौधा नहीं है जिसे दूसरे देश से लाकर अपने देश में रोप दिया जाये। विकास को स्वदेशी तकनीक पर आश्रित होना चाहिए। संस्कृति तकनीक पर आश्रित होती है परन्तु तकनीकी पर नहीं। "हम बिना तकनीकी के जी सकते हैं, किंतु बिना तकनीक के नहीं जी सकते हैं।"[४] यह कहना कि तकनीक और संस्कृति एक दूसरे से असंगत नहीं है, यह कहने के बराबर है कि तकनीकी और संस्कृति स्वतंत्र हैं। संस्कृति तकनीक की कल्पना करती है। तकनीक की व्यवस्था एवं सामंजस्य को ही तकनीकी कहते हैं। "बिना संस्कृति के तकनीक नहीं हो सकती, बिना तकनीक के संस्कृति नहीं हो सकती है।"[५] संस्कृति बिना तकनीक की व्यवस्था के संभव नहीं हैं। संस्कृति तकनीक के अनुरूप होती है। तकनीक स्थायी एवं गतिशील संस्कृति की अभिव्यक्ति है। संस्कृति तकनीक के माध्यम से जीवित रहती है। "इस तरह कुम्हकार ने एक तकनीक का निर्माण किया है जिसको सांस्कृतिक दृष्टि से हम बर्तन कहते हैं। छोटे-छोटे बर्तन इसी तकनीक के फल हैं। बिना तकनीक के वर्तन नहीं बन सकते हैं, बिना इसके जीवन नहीं चल सकता।"[६] तकनीक समाज में परिवर्तन लाती है। मानव सेवा के लिए यह एक भावात्मक साधन है, यह एक साधन है जो मानव कल्याण के लिए उपयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए लेजर तकनीक का प्रयोग कर मोतियाबंद जैसे आँख के रोग का उपचार किया जाता है। इस अर्थ में लेजर मानव कल्याण के लिए प्रयुक्त होता है। यह शुभ है। परन्तु लेजर का प्रयोग "न्यूक्लियर बम" की दिशा तथा विस्फोट के लिए भी किया जा सकता है। यह प्रयोग अशुभ है। "सैटेलाइट्स" का प्रयोग शिक्षा तथा संस्कृति की प्रगति के लिए किया जा सकता है। यह प्रयोग शुभ है। परन्तु "सैटेलाइट्स" का प्रयोग अपसंस्कृति के प्रचार एवं प्रसार के लिए भी किया जा सकता है। यह अशुभ है। जब तकनीक मानव सेवा का साधन बनती है तब उसे नैतिक दृष्टि से शुभ माना जाता है। तकनीक प्राकृतिक संसाधन को अच्छे रूप में उपयोग करने में सहायता प्रदान करती है। यह सांस्कृतिक अस्मिता की सुरक्षा तथा राष्ट्र की एकता को बनाये रखने में सहायक हो सकती है। प्रो. रमाकांत सिनारी ने अपने आलेख "साइन्स, टेक्नॉलजी एण्ड हिन्दू वेल्टान्सच्यूग" में कहा है, "विज्ञान एवं तकनीक मानव को शक्ति सम्पन्न बनाता है- उसकी शक्ति की इच्छा को समारोपित करता है। मानव इस शक्ति को अपनी प्रगति तथा अस्तित्व को बनाये रखने के लिए उपयोग कर सकता है अथवा अपने विनाश के लिए भी कर सकता है।"[७] मानव सदैव नयी तकनीक का विकास करता है। तकनीक का सही प्रयोग होना चाहिए जिससे हम इसके निषेधात्मक पक्ष से मुक्त रह सकें। परन्तु प्राकृतिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संसाधनों को मानव कल्याण के लिए प्रयुक्त करने की दिशा में तकनीकी हमारी सहायता करता है । गैबरिल मार्शल ने इसे 'तकनीकी मानसिकता' की संज्ञा दी है। तकनीकी की उत्पति से मानव में पूर्ण स्वतंत्रता की चेतना पैदा होती है । तकनीक के कारण हम बहुत सारे प्राकृतिक बंधनों से मुक्त हुए हैं । प्राकृतिक अशुभ से हमें तकनीकी विकास के कारण मुक्ति मिली है । यह एक गलत धारणा है कि भारतीय संस्कृति की अस्मिता की रक्षा का तात्पर्य वर्तमान तकनीकी से विमुखता है । मानव जीवन की आवश्यकताओं को देखते हुए यह लगता है कि तकनीकी का उपयोग मानव कल्याण को बढाता है । तकनीकी रूप से प्रगतिशील समाज में मानव की अनेकानेक समस्याओं का जैसे भूख, बीमारी, गरीबी, महामारी, शारीरिक असंतोष, की समस्याओं का समाधान किया गया है । एक अर्थ में तकनीक हमारी संस्कृति की रक्षा करता है । तकनीक आधुनिक समाज एवं समय की माँग को पूरा करता है । तकनीक के उपहारों को हम संस्कृति की अस्मिता की रक्षा के लिए प्रयोग कर सकते हैं । तकनीक समाज के लिए लाभदायक है । किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि तकनीकी विकास के लिए हम अपनी संस्कृति का परित्याग कर दें । जब तकनीक को मशीन के रूप में देखते हैं तब यह मूल्यमुक्त है । परन्तु यदि इसे मानवीय क्रिया-कलाप से जोडकर देखते हैं तो यह मूल्ययुक्त है । तकनीक के प्रयोग के संदर्भ में विचार करते हैं तो यह मूल्ययुक्त है । तकनीक हमारे जीवन का अंग है । यह हमारी संस्कृति से जुडा है । अरनाल्ड पेसी ने अपनी पुस्तक "द कल्चर ऑफ टेक्नालाजी" में तकनीक संबंधी तीन पहलुओं पर विचार किया है ।

(१) **संगठनात्मक पहलू** जो डिजाइनर, इंजिनियर, कनज्यूमर तथा लेबर युनियन्स से जुडा अंतर कमी करा है।

(२) **तकनीकी पहलू** जो कार्य-दक्षता एवं तकनीकी ज्ञान तथा मशीन से संबंधित है ।

(३) **सांस्कृतिक पक्ष** जो लक्ष्य, मूल्य, प्रगति में विश्वास से संबंधित है तथा डिजाइनर की सृजनात्मकता से संबंधित है ।[१] आरनाल्ड पेसी का मत है कि साधारण मनुष्य तकनीक को "अवधारणा" के अर्थ में या सीमित प्रयोग के अर्थ में देखता है । जब तकनीक को उसके सीमित अर्थ में देखते हैं तब तकनीकी को तकनीकी के अर्थ में समझते हैं । यदि तकनीक को जीवन का अंग मान लेते हैं तो तकनीक को मूल्यमुक्त नहीं कह सकते हैं । तकनीक का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मूल्यों पर, परम्परा पर तथा मानवीय जीवन पर प्रभाव पडता है । तकनीक हमारी सांस्कृतिक मूल्यों को परिवर्तित करता है । हमारी सभ्यता में परिवर्तन करता है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बीसवीं शताब्दी की तकनीकी संस्कृति ने मानव के प्रति दृष्टिकोण बदल दिया है। मनुष्य एक क्रिया का सम्पादक मात्र है तथा वह अन्य लोगों के बीच एक "वस्तु" मात्र बन कर रह गया है। वह "आत्मा" या मानवीय चेहरा युक्त नहीं दिखता है।[१०] संस्कृति और तकनीकी में एक साक्षात् संबंध है। संस्कृति और तकनीकी एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। विकसित समाज ने तकनीक को जन्म दिया है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का तकनीकी विकास के साथ सामंजस्य होना चाहिए। यहाँ हमने संस्कृति को आज के तकनीकी समाज के साथ संबंधित करने की चेष्टा की है। एक समीक्षक एवं दार्शनिक का यह प्रयास दुरुह प्रतीत होता है। यह कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक है तथा उसका सामंजस्य तकनीकी समाज से नहीं हो सकता है। मेरी मान्यता है इस प्रकार का विचार संकुचित है। संस्कृति वह चाहे भारतीय हो या पश्चिमी उसकी तकनीकी से विसंगति नहीं हो सकती। वह परस्पर विरोधी नहीं है। तकनीकी भारतीय संस्कृति का अंग है। प्राचीन काल के सांस्कृतिक मूल्य उस काल-विशेष में प्रचलित तकनीक के अनुरूप थे। आज के सांस्कृतिक मूल्य वर्तमान तकनीकी समाज के आलोक में निर्धारित होते हैं।

तकनीकी समाज एवं भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों में विसंगति का अभाव हम दो दृष्टिकोणों से देख सकते हैं :-

(१) एक यह दर्शाना कि तकनीकी और भारतीय संस्कृति में संगति है।

(२) दूसरा, यह दर्शाना कि भारतीय संस्कृति तकनीकी समाज के निषेधात्मक प्रभाव को कम करता है।

यह सत्य है कि विज्ञान तथा तकनीकी का भारतीय सामाजिक जीवन में अत्यन्त महत्त्व है। प्रश्न है कि भारतीय संस्कृति कैसे तकनीकी के साथ संगति रखकर अपनी अस्मिता को बनाये रखती है। आधुनिक भारतीय मानव के सामने एक प्रश्न है कि कैसे प्राचीन भारतीय परम्परा एवं अत्याधुनिक तकनीकी के साथ सामंजस्य स्थापित करें। इस बात से हम सहमत हैं कि प्राचीन परम्परा की बहुत सी अच्छी बातों को हमें वरण करना है और त्याज्य बातों को छोड देना है। परम्परा और तकनीकी दोनों के प्रति ईमानदार बने रहना एक कठिन कार्य प्रतीत होता है। परन्तु मेरी धारणा है कि विवेक का सहारा लेकर हमें यह निश्चित करना होगा कि किन अवस्थाओं में तकनीकी समाज को भारतीय संस्कृति के साथ संयुक्त किया जा सकता है जिससे भारतीय संस्कृति का आंतरिक स्वरूप विकृत न हो सके। संस्कृति मनुष्यों के व्यक्तिगत तथा सामाजिक संबंधों को निर्धारित करती है। बहुलतावादी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय समाज में भारतीय समाज में भारतीय संस्कृति तथा उसके मूल्य समाज में समरसता एवं सामंजस्य बनाये रखते हैं । भारतीय मूल्यव्यवस्था वस्तुत: भारतीय समाज को एक विशष्ट सांस्कृतिक संरचना प्रदान करता है । इस बात को हम अस्वीकार नहीं कर सकते हैं कि विदेशी संस्कृति एवं मूल्य तथा तकनीकी के प्रवेश से भारतीय संस्कृति की अस्मिता प्रभावित हुई है । भारतीय संस्कृति की जडें हमारी प्राचीन संस्कृति में है । परन्तु हम अपने रूढीगत मूल्यों के साथ चिपके नहीं रह सकते हैं । संचार तकनीक के प्रादुर्भाव एवं विकास के फलस्वरूप मूल्यों की अवधारणा में परिवर्तन हुआ है । समकालीन भारतीय संस्कृति में परिवर्तन हुआ है । संचार तकनीकी विकास के कारण संस्कृति प्रभावित हुई है । "मास मिडिया" सांस्कृतिक दृष्टि से तटस्थ नहीं है । "मास मिडिया" हमारे विचार, चिंतन, मूल्य पर प्रभाव डालती है । संचार तकनीक हमारी जीवन शैली तथा मूल्यों को प्रभावित एवं परिवर्तित करती है ।

भारत वर्ष में तकनीक पूर्णत: स्वदेशी नहीं है । इस संदर्भ में हमारे सामने तीन विकल्प हैं :-

प्रथम विकल्प है कि परम्परायुक्त भारतीय संस्कृति के बावजूद हम विदेशी तकनीक को पूर्णत: स्वीकार करें । मानकर चलें कि वर्तमान युग में कोई देश दूसरे देश को अब गुलाम नहीं बना सकता है । तकनीकी विकास से भारत की राष्ट्रीयता पर कोई खतरा नहीं है ।

दूसरा विकल्प है कि विदेशी तकनीक को पूर्णत: अस्वीकार करें क्योंकि उससे हमारे राष्ट्रीय चरित्र के विकृत होने की संभावना बनती है ।

तीसरा विकल्प है कि भारतीय सामाजिक, संस्कृतिक तथा आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप प्रासंगिक तकनीकी को अपनायें । मेरे विचार में तीसरा विकल्प प्रासंगिक एवं उचित है, क्योंकि भारतीय तकनीक का सही प्रयोग कर मानव जीवन की विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तकनीकी का प्रयोग प्रासंगिक लगता है क्योंकि यह तकनीकी समाज की आवश्यकता की पूर्ति के अतिरिक्त समाज के संगठन, संरचना तथा मानवीय संबंधों का निर्माण भी कर रहा है । 'संचार तकनीक' ने शिक्षा के क्षेत्र में तथा परिवार नियोजन को लोकप्रिय बनाने में सहायता की है । स्वास्थ्य संबंधी बातों को टेलिविजन के माध्यम से गाँव-गाँव तक प्रसारित किया है। एक राष्ट का दूसरे राष्ट्र के साथ सम्पर्क जोडने में संचार तकनीकी ने काफी मदद की है ।

अत: हम कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति के द्वारा पोषित मूल्यों तथा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तकनीकी समाज द्वारा संवर्धित मूल्यों में विसंगति का अभाव है। भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक तथा लौकिक मूल्यों में विरोध नहीं मानती है। लौकिक मूल्य इस जीवन और जगत् से संबंधित है। परन्तु लौकिक मूल्य को भी आध्यात्मिकता से सर्वथा वंचित नहीं माना गया है। वेदान्तदर्शन में आध्यात्मिक और लौकिक मूल्यों में संगति स्थापित करने का अनूठा प्रयास किया गया है। वेदांत मे पारमार्थिक सत्ता और व्यवहारिक सत्ता को असंगत नहीं माना गया है। लौकिक मूल्य तकनीकी समाज का सूचक है। लौकिक मूल्य के अन्तर्गत अर्थ और काम है। आध्यात्मिक मूल्य का संबंध धर्म एवं मोक्ष से है। वेदान्तदर्शन में पारमार्थिक सत्ता व्यावहारिक सत्ता के लिए तात्त्विक आधार देती है। भारतीय दर्शन में मनुष्य को अपनी सत्ता से ऊपर उठने की बात की गयी है। तकनीकी समाज में व्यक्ति अपनी सत्ता को खो देता है। तकनीकी समाज का अमानवीकरण निषेधात्मक है। अमानवीयकरण की प्रक्रिया में मानव अपना सारा तत्त्व खो देता है। मानव मशीन का अंग बन जाता है। मानव की सृजनात्मकता समाप्त हो जाती है। उसका अस्तित्व यांत्रिक बन जाता है। तकनीकी समाज मानव को यांत्रिक तथा अप्राकृतिक बना देता है। अमानवीकरण की प्रवृत्ति मानव को अव्यवस्थित कर देती है। वेदान्त संस्कृति में मानव अपने अहम् से ऊपर उठ जाता है। इसमें हम मानवेतर अस्तित्व की ओर अग्रसर होते हैं। इसे एक प्रकार का "उदात्त अमानवीयकरण" कहा जा सकता है। मानव जब अपने अहम् से ऊपर उठता है तो वह उदात्त स्तर की ओर अग्रसर होता है। तकनीकी परिप्रेक्ष्य में अमानवीयकरण और वेदान्त दर्शन के "उदात्त अमानवीयकरण" में अन्तर है। "उदात्त अमानवीयकरण" विश्वातीत सत्ता का द्योतक है। किंतु मैंने "विश्वातीत अस्तित्व" या "अपौरुषेय" की बात न कर "उदात्त अमानवीयकरण" शब्द का प्रयोग किया है। विश्वासतीत या अपौरुषेय कहने से ऐसा लगता है कि हम नैतिक स्तर से परे चल गये हैं। इसलिए कुछ आलोचकों का आरोप है कि वेदान्त दर्शन में नैतिकता का कोई स्थान नहीं है। ब्रह्म के साथ मानव का जब तादात्म्य हो जाता है तो नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं रहता है। 'विश्वातीत' या 'अपौरुषेय' अभिव्यक्ति नैतिक स्तर को चित्रित नहीं कर पाती है। परन्तु 'उदात्त अमानवीयकरण' के स्तर पर नैतिकता के लिए स्थान है। तकनीकी समाज का अमानवीयकरण मानव से उसका मानवपन अपहरण कर लेता है। अमानवीयकरण के बाद मनुष्य मात्र क्रिया-प्रतिक्रिया का पुंज मात्र रह जाता है। भारतीय संस्कृति मानव के सृजनात्मक पक्ष पर बल देती है। आध्यात्मिक प्रक्रिया मानव के सार को आत्मसात् कर लेती है। तकनीकी संस्कृति में मानव एक वस्तुमात्र रह जाता है। तकनीकी समाज में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तकनीक सबकुछ निर्धारित करता है । वेदान्त दर्शन में मानव अस्तित्व का एक तात्त्विक आधार माना गया है । "उदात्त अमानवीयकरण" जीवन एवं जगत् को नकारता नहीं बल्कि वह मानव अस्तित्व को तात्त्विक आधार देता है।

दार्शनिक समीक्षक कह सकते हैं कि तकनीकी और संस्कृति में संगति स्थापित करने का प्रयास दुरुह एवं दुर्बोध है । सामाजिक विकास के दो आयाम हैं, एक आर्थिक तथा दूसरा सांस्कृतिक । तकनीक हमारे आर्थिक क्रिया-कलापों की प्रक्रिया तेज करती है । यह कहना सही नहीं है कि तकनीकी और संस्कृति दो धरातल पर है । भारतीय संस्कृति आर्थिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों में एकता स्थापित करती है । एकता बाह्य तथा आंतरिक दोनों पहलुओं से संबंधित है । सामाजिक एकता बाह्य है और आत्मज्ञान आंतरिक एकता प्रदान करती है । तकनीकी सामाजिक एकता पैदा करती है, संस्कृति आंतरिक एकता पैदा करती है । भारतीय संस्कृति भारतीय तकनीकी को महत्त्व देती है । मारग्रेट चटर्जी के शब्दों में "भारत की अपनी वैज्ञानिक परम्परा है जिसके बिना वह शताब्दी दर शताब्दी जीवित नहीं रह सकता था । उदाहरण के लिए स्वदेशी चिकित्सा पद्धति का एक लम्बा पुराना इतिहास है ।"[२२]

तकनीकी के भावात्मक एवं निषेधात्मक दोनों पक्ष हैं । तकनीकी समाज में प्रदूषण व्याप्त है । प्रदूषण के कारण प्राकृतिक सौंदर्य एवं सामंजस्य को खतरा है। तकनीकी अलगाव पैदा करती है । मानव अपने आप परायापन के भाव से ग्रसित हो जाता है । तकनीकी मानव को वस्तु के रूप में देखती है । भारत में औद्योगिकरण, शहरीकरण, कम्प्युटरीकरण से जीवनशैली में परिवर्तन हुआ है । मानवीय रिश्ते यांत्रिक बन गये हैं । संबंधो में बिखराव आया है । उपभोगतावादी संस्कृति पनपी है । मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक तनाव बढे हैं । मानव ने तकनीकी का आविष्कार किया है किन्तु कालक्रम में तकनीकी उसका स्वामी बन बैठा । मानव तकनीकी पर आश्रित हो गया है । मानव तकनीकी का दास बन बैठा है । इस त्रासदी से उबरने के लिए मानव आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होता है । भारतीय संस्कृति मानव को अमानवीकरण से मुक्ति दिला सकती है । भारतीय संस्कृति जीवन को एक अर्थ देती है क्योंकि मानव जीवन को उदात्त स्तर पर स्थापित करती है । भारत की संस्कृति समग्रता की संस्कृति है । यह लौकिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को एक सूत्र में जोडती है । लौकिक, मूल्यों को तात्त्विक आधार प्रदान करती है । भारतीय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संस्कृति तकनीकी को जीवन के साथ जोडती है। यह भूत, वर्तमान एवं भविष्य को उसकी समग्रता में देखती है।

रमेश चन्द्र सिन्हा
२०२, सप्तर्षि अपार्टमेन्ट
राजकिशोरी कॉम्प्लेक्स
कंकडबाग, पटना ८०००२०
(बिहार)

टिप्पणियाँ

१. नाग चौधरी, बी. डी., टेक्नॉलाजी, लेंग्वेज एण्ड इण्डिक्स (न्यू टेक्नालॉजिकल सिवलिजेशन एण्ड इन्डियन सोसायटी) इंडियन इन्स्टिटयूट ऑफ एडवान्सड स्टडी, शिमला, १९९०, पृ. ८

२. लेसली, हवाइट, द इव्यूल्यूशन ऑफ कल्चर, न्यूयार्क, १९५९.

३. टालकोट पारसन, सोसाइटिज, इगलवर्ड (न्यूजर्सी), प्रेन्टीस हाल, १९६६, पृ. १५०

४. इनसाइक्लोपिडिया ऑफ द हिस्ट्री ऑफ साइन्स, टेक्नोलॉजी एण्ड मेडिसिन इन न्यू-वेस्टर्न कल्चर्स, (सं.), हेलने संलिन, क्लूअर एकाडमिक पब्लिसर्स यू. एस. ए. १९४७.

५. वही, पृ. ९४६.

६. वही, पृ. ९४६.

७. नागचौधरी, बी. डी. (सं.), न्यू टेक्नोलॉजिकल, सिवलिजेशन एण्ड इंडियन सोसाइटी, इन्डियन इन्स्टिटयूट ऑफ एडवान्सड स्टडी, शिमला, १९९०. पृ. ११.

८. वही, पृ. १२.

९. पेसी, आरनल्ड, द कल्चर ऑफ टेक्नोलॉजी, मेसिल ब्लेकवल, १९८३, पृ. १२.

१०. सिनारी, रमाकान्त, साइन्स, टेक्नोलॉजी एण्ड द हिन्दू वेल्टान्स्च्युग (सं.) नाग चौधरी, बी. डी. (न्यू टेक्नोलॉजिकल सिवलिजेशन एण्ड इन्डियन सोसायटी) इंडियन इन्स्टिटयूट ऑफ एडवान्सड स्टडी, शिमला, १९९०. पृ. १८.

११. वही, पृ. २९.

१२. माग्रेट चटर्जी, न्यू टेक्नोलॉजिकल सिवलिजेशन एण्ड इंडियन सोसायटी (प्रीपेस) इंडियन इस्टिटयूट ऑफ एडवान्सड स्टडी, १९९०, पृ. ४.

★

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ईश्वरीय मृत्यु का ईशविज्ञान और ईश्वरीय अस्तित्व संबंधी सत्तामूलक तर्क

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य ईश्वरीय मृत्यु का ईशविज्ञान और ईश्वरीय अस्तित्व सम्बन्धी सत्तामूलक तर्क के बीच अन्तरसम्बधों का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करना है। इन दोनों सिद्धान्तों का केन्द्र बिन्दु ईसाई धर्म ही है। ईश्वरीय मृत्यु का ईशविज्ञान ईसाई अनीश्वरवाद का ही एक रूप है। सत्तामूलक तर्क ईश्वरीय अस्तित्व को प्रमाणित करने का एक परम्परागत प्रयास है। इस तर्क के स्थापन में इसके प्रणेता एन्सेलमलम ईसाई धर्म से प्रभावित हैं। हमारे लिए दार्शनिक अभिरुचि का विषय यह हो सकता है कि ईसाई धर्म से ही प्रभावित फिण्डले ने ईश्वरीय अस्तित्व संबंधी सत्तामूलक तर्क प्रस्तुत किया है। फिण्डले के इस मत को सत्तामूलक अनीश्वरवाद की संज्ञा दी गयी है। ये दोनो सिद्धांत एक समय में ही सत्य नहीं हो सकते। अत: इस बात का निर्धारण एक महत्तम दार्शनिक प्रयास होगा कि इन दोनों में से किसे अधिमान दिया जाय। यदि गहनता से देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वरीय मृत्यु का ईशविज्ञान के मूल स्थापनाओं को सत्तामूलक तर्क के मूल ईश्वरीय स्वरूप संवंधी सूत्र 'ईश्वर से बृहत्तर सत्ता का विचार अकल्पनीय है' ने ही आधार प्रदान किया है। इन सभी विचारों में एक उभयनिष्ठ तथ्य है - ईसाई धर्म से इनकी सन्निकटता। इन विभिन्न मतों को प्रस्तुत करते हुए इनके पारस्परिक मूल्यांकन के आधार पर कुछ निष्कर्ष स्थापित करने के प्रयास किये जायेंगे जो इस लेख के उद्देश्य प्राप्ति के लिए उचित दिशा प्रदान करने में सक्षम हों।

ईश्वरीय मृत्यु का ईशविज्ञान

ईश्वरीय मृत्यु संबंधी विचारों का स्रोत कुछ अमेरिकी ईशवैज्ञानिकों के विचारों में अन्वेषित किया जा सकता है। जी. वाहनीयन, हार्वे काक्स, विलियम हेमील्टन, पॉल मैन बुरेन, अलतीजर इत्यादि के नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। इन विचारकों के धार्मिक सम्बद्धता में मतैक्य नहीं। वाहनीयन एक फ्रांसीसी काल्वीनवादी हैं। काक्स और हेमील्टन वपतिस्मा दाता हैं और बुरेन धर्माध्यक्ष पादरी हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अलतीजर धर्माध्यक्ष साधारण व्यक्ति है । इन विचारकों को ईश्वरीय मृत्यु के ईशविज्ञान का जनक माना जाता है । पर, इनमें अलतीजर ही वह विचारक है, जिसने धर्मदर्शन के लिए कुछ मूलभूत समस्याओं को उपस्थित किया है ।

'ईश्वर मृत है' कथन पर अशाब्दिक और शाब्दिक रूपों में विचार किया जा सकता है । यदि इस कथन पर अशाब्दिक रूप से विचार किया जाता है तो 'ईश्वर' और 'मृत' को उद्धरण चिह्न के अन्तर्गत रखना होगा क्योंकि ये इन पदों के क्रमिक सामान्य अर्थ को व्यक्त नहीं करते । 'मृत' पद कों उद्धरण चिह्न के अन्दर रखना अधिक सामान्य प्रतीत होता है । एक ईशवैज्ञानिक जब 'ईश्वर मृत है' जैसे अभिकथन को प्रस्तुत करता है तो वह इसे शाब्दिक अर्थ में स्वीकार करने की इच्छा नहीं रखता । 'ईश्वर मृत है' अभिकथन से एक ईशवैज्ञानिक यह कहना चाहता है कि जनमानस अब ईश्वरीय विचार को अनिवार्य मानने को तत्पर नहीं । 'ईश्वर मृत है' कथन को दो रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है । प्रथम रूप को हम ईश्वरवादी अशाब्दिक अभिकथन कहेंगे । इस प्रकार के अभिकथन में विश्वास करने वाले ऐसा मानते हैं कि एक परात्पर सत्ता है, पर किसी कारणवश इस विश्व में जीवन्त शक्ति के रूप में वह उपस्थित नहीं । 'ईश्वर मृत है' कथन को अनीश्वरवादी अशाब्दिक रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है । अनीश्वरवादी इस कथन से यह कहना नहीं चाहते कि ईश्वर कभी था, पर अब नहीं बल्कि यह कहना चाहते हैं कि ईश्वर कभी था हीं नहीं ।

ईश्वरीय मृत्यु का ईशविज्ञान 'ईश्वर मृत है' अभिकथन को मुख्य रूप में अशाब्दिक रूप में स्वीकार अवश्य करता है, पर इसे शाब्दिक रूप से स्वीकार करने की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता । शाब्दिक रूप में 'ईश्वर मृत है' अभिकथन पर विचार करते हुए कहा जा सकता है कि एक सत्ता जिसे सही रूप में ईश्वर माना जाता था, वह सत्ता अब वास्तव में मृत हो चुका है ।

उपर्युक्त चर्चा के आलोक में कहा जा सकता है कि वाहनीयन, काक्स, हेमील्टन और बुरेन अशब्दवादी हैं । ये लोग हमेशा यह मानेंगे कि अभी भी परात्पर सत्ता नाम की वस्तु है । इनके साथ समस्या यह है कि इस परात्पर सत्ता के वर्णन के लिए एक अप्रचलित पद का सहारा लिया गया और इस कारण बहुत लोगों को इसका ज्ञान नहीं हो पाया । दूसरी ओर हेमील्टन और बुरेन अनीश्वरवादी अशब्दवादी हैं । १९६५ में हेमील्टन अंतिम रूप से इस निष्कर्ष पर आते हैं कि ईश्वर इस विश्व में उपस्थित नहीं है ।[१] बुरेने भी कुछ इसी प्रकार के निष्कर्ष पर आते हैं, हालाँकि इनका पथ थोडा भिन्न रहा है । बुरेन के अनुसार ईश्वर पद का कोई अर्थ नहीं ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उन्हीं के शब्दों में 'समस्या यह है कि ईश्वर पद मृत है ।[२] अलतीजर ही एक मात्र शब्दवादी हैं । उन्हीं के शब्दों में यह अनिवार्य है कि मूल ईसाई अपने स्वीकारोक्ति को स्पष्ट करे ताकि ईश्वरीय मृत्यु की भाषा से उत्पन्न विभ्रम और अस्पष्टता को जहाँ तक संभव हो निराकृत किया जा सके । ईश्वरीय मृत्यु की स्वीकृति एक यथार्थ घटना की चर्चा है जो किसी काल या इतिहास के क्षण में घटनेवाली घटना नहीं बल्कि एक ऐसी घटना है जो वास्तव में ऐतिहासिक और वैश्विक अर्थ में घटित हुई है । इस भ्रामक मान्यता से दिगभ्रमित होने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की स्वीकारोक्ति इतिहास या सृष्टि से 'ईश्वर का प्रत्याहार है' एक प्रमाणिक भाषा जो ईश्वरीय मृत्यु की चर्चा करता है अनिवार्य रूप से ईश्वर की मृत्यु की चर्चा करता है । मूल ईसाई यह उद्घोषित करते हैं कि यशु में ही ईश्वर की मृत्यु हुई है । यह मृत्यु ऐतिहासिक घटना के साथ-साथ वैश्विक घटना के रूप में भी हुई है । अत: यह अंतिम और अप्रत्यादेय घटना है जिसका विपर्य संभव नहीं ।[३]

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता की ईश्वर की मृत्यु को लेकर ईशवैज्ञानिकों के बीच मतैक्य का अभाव रहा है, पर इनके विचार कुछ निश्चित उभयनिष्ठ समस्याओं से अनुप्रेरित हैं । ये सभी वर्तमान जीवन के गुण एवं धार्मिक संदेशों के गुण से असंतुष्ट हैं । इन लोगों का यह प्रयास है कि अपने संदेश को हमारे वर्तमान समस्याओं के प्रति प्रासंगिक बनाया जाय । ये लोग इस विश्व में मानवीय उपाधि और उसके समस्याओं के समाधान के प्राप्ति के लिए किये जा रहे अनवरत प्रयासों के प्रति हीं मात्र सर्वसम्मति नहीं रखते बल्कि यह भी मानते हैं कि इस समस्या का कोई भी संतोषप्रद समाधान इस विश्व में हमारे जीवन को सहनीय बनायेगा ।

ईश्वरीय अस्तित्वसंबंधी सत्तामूलक तर्क

ईश्वर-विज्ञान का इतिहास बौद्धिक तर्क के द्वारा ईश्वरीय अस्तित्व को स्थापित करने के असंख्य प्रयासों से ओत-प्रोत है । सत्तामूलक तर्क इसी प्रयास का एक विशिष्ट उदाहरण है । मध्ययुगीन दार्शनिक सन्त एन्सेलम ने सर्वप्रथम इसको शास्त्रीय रूप में प्रस्तुत किया । मध्य युग धार्मिक अन्वेषण का युग माना गया है । यहूदी-ईसाई परम्परा ही इस युग का मुख्य धर्म है । एन्सेलम अपने युग विशेष की धार्मिक विचारधारा से प्रभावित हैं । इसीलिए सत्तामूलक तर्क के प्रतिपादन में भी इनका दृष्टिकोण यहूदी-ईसाई परम्परा की धार्मिक मान्यताओं से प्रभावित हैं ।

सत्तामूलक तर्क प्रागनुभविक तर्क का उत्कृष्ट उदाहरण है । इसमें मात्र ईश्वर-प्रत्यय के विश्लेषण के आधार पर ईश्वरीय अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किया जाता है । यह तर्क अपने आधार वाक्य के रूप में किसी ऐसे प्रकथन को स्वीकार नहीं करता जो वस्तुओं के सम्बन्ध में अनुभवमूलक (इम्पेरीकल) सूचना देता हो । सत्तामूलक तर्क कुछ संप्रत्ययों के अर्थ विश्लेषण पर ही पूर्णत: आश्रित है । इस विशेष संप्रत्यय के बोध के लिए विशिष्ट निरीक्षित तथ्यों की अपेक्षा रखना अनिवार्य नहीं । इसके लिए मात्र इसके आधार वाक्यों में अन्तरग्रसित विभिन्न संप्रत्ययों के अर्थ का पूर्वाभास ही अनिवार्य है । सार रूप में सत्तामूलक तर्क का मुख्य मन्तव्य यही है कि यदि किसी व्यक्ति को इस तर्क के आधार वाक्य में प्रयुक्त विभिन्न वैध संप्रत्ययों का स्पष्ट बोध है, तो 'ईश्वर अस्तित्ववान् है' प्रकथन निष्कर्ष के रूप में अनिवार्यत: अनुगमित होगा ।

प्रोसोलीजियम में सत्तामूलक तर्क का निरूपण करते हुए एन्सेलम ने कहा है ईश्वर का विचार ही ईश्वर की सिद्धि करता है । हम ईश्वर को पूर्ण रूप से जानते हैं । इस पूर्ण विचार का कारण अपूर्ण मनुष्य नहीं हो सकता । अत: पूर्ण विचार का कारण पूर्ण ईश्वर ही है । ईश्वर विचार से ईश्वर की सिद्धि होती है ।' एन्सेलम के उपर्युक्त विचार को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है –

बृहत् वाक्य –	ईश्वर वह है जिससे अधिक पूर्ण का विचार अकल्पनीय है।
लघु वाक्य –	जिससे अधिक पूर्ण का विचार अकल्पनीय है, वह अवश्य विचार और वास्तविकता दोनों में सत् होगा ।
निष्कर्ष –	इसलिए ईश्वर मात्र विचार में ही नहीं वरन् वस्तुजगत् में भी सत् है ।

उपर्युक्त परिभाषा में ईश्वर विचार से ही ईश्वरीय सत्ता सिद्ध की गयी है । एन्सेलम ने अपने विचार को 'ईश्वर एक ऐसी सत्ता है जिससे बृहत्तर किसी अन्य सत्ता का विचार अकल्पनीय है' के रूप में सृजित किया है । एन्सेलम इसी सूत्र से ईश्वरीय सत्ता के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हैं । इस मूल सूत्र में बृहत्तर पद महत्त्वपूर्ण है । बृहत्तर पद को गुणात्मक और मात्रात्मक इन दो रूपों में प्रयुक्त किया जा सकता है । गुणात्मक रूप में कहा जा सकता है कि 'क' 'ख' से अधिक बुद्धिमान है या 'क' 'ख' से अधिक सुन्दर है । इसी प्रकार मात्रात्मक रूप में कहा जा सकता है कि 'क' 'ख' से अधिक धनी है । गुणात्मक और मात्रात्मक दृष्टान्तों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि मात्रा की चर्चा जब की जाती है तो यह जरूरी नहीं कि गुण की चर्चा उसके समतुल्य हो । उदाहरणार्थ यह नहीं कहा जा सकता कि जिस चीज को 'क' ने 'ख' से अधिक पैसे में बेचा हो वह 'ख' की चीज से सुन्दर ही हो ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस संदर्भ में 'किसी विशिष्ट सत्ता (ईश्वर) से बृहत्तर अन्य सत्ता अकल्पनीय है' का अर्थ निरूपण भी वांछनीय है। इस स्थल पर बृहत्तर पद को मात्रामूलक और गुणात्मक दोनों अर्थों में प्रयुक्त किया जा सकता है। हम मान लें कि सभी वास्तव और संभाव्य सत्ताएँ किसी न किसी बढ़ती हुई मात्रा या बढ़ते हुए मूल्यक्रम में व्यवस्थित किये गये हैं। उदाहरणार्थ यदि 'अ' को सेकेन्ड माना जाय, 'ब' को मिनट, 'स' को घंटा, आदि तो स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि अनुवर्ती शृंखला के प्रत्येक सदस्य अपने पूर्ववर्ती शृंखला के सदस्यों की अपेक्षा दीर्घकाल तक उपस्थित रहते हैं। इसी प्रकार हम वस्तु, व्यक्ति और क्रियाओं को बढते हुए सौन्दर्य, न्यायप्रियता, दयालुता, निष्ठा इत्यादि जैसे गुणों और मूल्यों के क्रमिक व्यवस्था के रूप में शृंखलाबद्ध कर सकते हैं। इस दृष्टान्त में भी अनुवर्ती क्रम के प्रत्येक सदस्य अपने पूर्ववर्ती सदस्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण माने जायेंगे। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि एक विशिष्ट सत्ता ईश्वर से बृहत्तर अन्य सत्ता अकल्पनीय है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि उस व्यवस्थित शृंखला में एक ऐसा सदस्य है जिससे अन्य कोई सत्ता पूर्ववर्ती नहीं हो सकता। इसी प्रकार जब हम सबसे वैभवशाली व्यक्ति का विचार करते हैं तो इसका अर्थ होगा कि इस व्यक्ति से अधिक वैभवशाली व्यक्ति और कोई नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति इस व्यक्ति की तुलना में कम वैभवशाली माने जायेंगे। इसी प्रकार यदि हम सबसे अधिक बुद्धिमान् या न्यायप्रिय व्यक्ति की कल्पना करते हैं तो इसका अर्थ होगा कि कोई भी वास्तव या संभाव्य सत्ता इस व्यक्ति से अधिक बुद्धिमान् या न्यायप्रिय नहीं होगा।

एन्सेलम ने स्वयं यह स्पष्ट नहीं किया है कि इन दो व्यापक अर्थों–गुणात्मक एवं मात्रात्मक में से बृहत्तर पद के लिए किस अर्थ को प्रयुक्त करना चाहते हैं। एक स्थल पर उन्होंने यह संकेत अवश्य दिया है कि वे जब पूर्ण सत्ता (ईश्वर) के संदर्भ में 'किसी विशिष्ट सत्ता से वृहत्तर अन्य सत्ता कल्पनीय नहीं' पद का प्रयोग करते हैं तो उनका तात्पर्य गुणात्मक अर्थ से है।[५] एक ऐसी सत्ता जिससे बृहत्तर कोई अन्य सत्ता कल्पनीय नहीं का तात्पर्य एक ऐसी सत्ता से है जिसमें मूल्य की मात्रा सर्वोच्च विचारणीय रूप में है। एन्सेलम के इस महत्त्वपूर्ण सूत्र की उपर्युक्त व्याख्या उनके द्वारा प्रतिपादित ईश्वरीय अस्तित्व संबंधी सत्तामूलक तर्क को यहूदी-ईसाई धर्म के परिप्रेक्ष्य में संगति प्रदान करता है।

ईश्वरीय मृत्यु विषयक अभिकथन और सत्तामूलक तर्क

अधिकांश व्यक्तियों को 'ईश्वर मृत है' कथन बौद्धिक रूप में निरादणीय प्रतीत होता है। इस प्रकार का अभिकथन हमारे लिए विरोधाभासी प्रतीत होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पद 'ईश्वर मृत है' अभिकथन के संबंध में इस प्रकार की अनुक्रिया की उपयुक्तता को दिग्दर्शित करना सरल नहीं। यदि ईश्वर पर परम्परागत विश्वासों के आलोक में विचार करें तो यह अनुभूत होता है कि 'ईश्वर मृत है' अभिकथन असंगत है। किसी भी व्यक्ति को ईश्वर का बोध एक सर्वशक्तिमान अविनाशी सत्ता के रूप में होता है जिसकी मृत्यु या नाश संभव नहीं। यदि ईश्वर पर इस रूप में विचार किया जाता है तो ईश्वरीय मृत्यु की चर्चा विचित्र प्रतीत होता है। इस बिन्दु पर 'ईश्वर मृत है' कथन के समर्थन में कहा जा सकता है कि इस कथन के द्वारा ईशवैज्ञानिक यह कहना चाहते हैं कि ईश्वर स्वयं अपना विनाश करता है। यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो उसे आत्म-विनाश की क्रिया को सम्पादित करने में भी सक्षम होना चाहिए। यदि यह प्रमाणित हो जाता है कि मैं आत्महत्या नहीं कर सकता तो यह इस बात का प्रमाण होगा कि कुछ ऐसी भी क्रियाएँ हैं जिन्हें मैं नहीं कर सकता और इस प्रकार मुझे सर्वशक्तिमान् नहीं माना जा सकता। ईश्वर पर भी यही तर्क आरोपित किया जा सकता है।

हमें इस प्रश्न पर विचार कर पथ से विचलित नहीं होना चाहिए कि ईश्वर आत्म-विनाश क्यों चाहता है ? यदि ईश्वर आत्म-विनाश की क्रिया में संलग्न होता है तो इसके लिए उसके पास पर्याप्त कारण होने चाहिए। इस संबंध में क्या ईश्वर आत्म-विनाश कर सकता है ? जैसे प्रश्न पर विचार करना अभिरुचि का विषय हो सकता है। यदि ईश्वर आत्म-विनाश कर सकता है तो 'ईश्वर मृत है' अभिकथन को तार्किक रूप में असंगत नहीं माना जा सकता। ऐसी अवस्था में 'ईश्वर मृत है' कथन को सत्य भी माना जा सकता है हालाँकि इस कथन की सत्यता को दिग्दर्शित दूरह कार्य माना जा सकता है। अत: ईश्वर के संबंध में आत्म-विनाश की संभावना पर विचार करने के क्रम में मुख्य रूप से दो प्रश्न हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं - ईश्वर आत्म-विनाश क्यों कर सकता है और यदि वह इस क्रिया को नहीं सम्पादित कर सकता है तो क्या यह उसकी शक्ति को सीमित करता है ? इस प्रकार यह परिस्पष्ट है कि जब हम 'ईश्वर मृत है' कथन को विरोधाभासी मानते हैं तो हमें दिखलाना होगा कि एक सर्वशक्तिमान सत्ता से आत्म-विनाश की अपेक्षा रखना कोई अर्थ नहीं रखता। यहाँ पर यह प्रश्न हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि ईश्वर द्वारा आत्म-विनाश की क्रिया का सम्पादन या इस क्रिया को सम्पादित करने में ईश्वर की असमर्थता क्या उसके सर्वशक्तिमत्ता को प्रतिबिम्बित करता है? हमारे पास यह मानने का दृढ आधार है कि आत्म-विनाश की क्रिया को सम्पादित करने में ईश्वर की असमर्थता उसके सर्वशक्तिमत्ता को प्रतिबिम्बित नहीं करता।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जब हम कहते हैं कि 'क' सर्वशक्तिमान है तो इस कथन में एक महत्त्वपूर्ण परिगुण अवश्यसंभावी रूप से गुप्त होता है । इस परिगुण को स्पष्ट करते हुए हम कह सकते हैं कि एक सर्वशक्तिमान् सत्ता तार्किक रूप से संभव कुछ भी कर सकता है । दूसरे अर्थों में यह भी कहा जा सकता है कि ईश्वर कुछ भी कर सकता है यदि उससे अर्थपूर्ण ढंग से पूछा जाता है । यदि मैं अपने आपकों सर्वशक्तिमान् मानता हूँ तो यह कहते हुए हमारी सर्वशक्तिमत्ता को चुनौती दी जा सकती है कि मैं हवा में तीस फीट से कूद कर दिखाऊँ और मैं इस प्रयास में असफल रहता हूँ तो यह प्रमाणित होता है कि मैं सर्वशक्तिमान् नहीं । दूसरी ओर यदि कोई हमसे चार भुजाओं वाला त्रिभुज उपस्थित करने को कहे और मैं इसे उपस्थित नहीं कर पाता तो यह हमारे सर्वशक्तिमत्ता को प्रतिबिम्बित नहीं करेगा । हम अति सरलता से यह कह सकते हैं कि आप हमसे जो चाह रहे हैं वह व्याघातक हैं, इसका कोई अर्थ नहीं । अब क्योंकि हमसे पूछा गया प्रश्न कोई अर्थ नहीं रखता इसलिए अति सुगमता से हम कह सकते हैं कि हमसे अभी कोई प्रश्न पूछा हीं नहीं गया । एक सर्वशक्तिमान् सत्ता से उसी क्रिया को सम्पादित करने की अपेक्षा की जा सकती है जो उसके लिए तार्किक रूप में संभव हो । एक सर्वशक्तिमान् सत्ता से अर्थपूर्ण ढंग से तार्किक रूप से असंभव क्रिया को सम्पादित करने की अपेक्षा नहीं की जा सकती । अतः ईश्वर से तार्किक रूप में असंभव क्रिया को सम्पादित करने में ईश्वर की असमर्थता उसके सर्वशक्तिमत्ता के प्रसंग में व्यर्थ है । यदि यह मान्य हो तो हमें मात्र यह दिखलाना होगा कि ईश्वरीय आत्म-विनाश की चर्चा आत्म-व्याघाती है । यह कहने को कोई अर्थ नहीं रखता कि ईश्वर ने स्वयं को नाश कर लिया है और न तो इस प्रकार की क्रिया के सम्पादन की अपेक्षा ईश्वर के प्रसंग में कोई अर्थ रखता है । अन्ततः इस प्रकार की क्रिया के सम्पादन में ईश्वर की असमर्थता का तात्पर्य यह कभी नहीं हो सकता कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं ।

इस स्थल पर ' ईश्वर ने अपना विनाश कर लिया है ' कथन का विश्लेषण अपेक्षित है । इस कथन का निहितार्थ यह हो सकता है कि ईश्वर एक समय में - अस्तित्वपूर्ण होता है और बाद में उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है । ऐसा मानने का अभिप्राय यह होगा कि एक अस्तित्वपूर्ण ईश्वर के अस्तित्व की समाप्ति संभव हैं । ऐसा विश्वास है कि 'एक अस्तित्वपूर्ण ईश्वर के अस्तित्व की समाप्ति संभव है ' धार्मिक परम्परा के एक मूलभूत विश्वास पर आधृत है । हम ऐसा मानते हैं कि ईश्वर एक अनिवार्य सत्ता है । एन्सेलम और मॉलकम ने ईश्वरीय अस्तित्व संबंधी सत्तामूलक तर्क के प्रतिपादन में इस बात पर बल दियां है कि सही अर्थों में ईश्वर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की अनिवार्य सत्ता हमें मान्य होनी चाहिए। एन्सेलम ने सत्तामूलक तर्क का द्वितीय रूप प्रस्तुत करते हुए कहा है 'ईश्वर का अस्तित्व इतना वास्तविक है कि इसके अनस्तित्त्व का विचार नहीं किया जा सकता क्योंकि एक ऐसी सत्ता का विचार संभव है जिसके अनस्तित्व का विचार नहीं किया जा सकता और यह सत्ता उस सत्ता से बृहत्तर होगा जिसके अनस्तित्व का विचार संभव है। अत: एक ऐसी सत्ता है जिससे बृहत्तर सत्ता का विचार संभव नहीं और इस प्रकार के अनस्तित्व का विचार संभव नहीं। यह सत्ता है परमेश्वर, हमारा ईश्वर है।'[६] अनिवार्य सत्ता के संबंध में मॉलकम इन शब्दों में अपने विचार को व्यक्त करते हैं 'यदि ईश्वर ऐसी सत्ता है जिससे बृहत्तर अन्य सत्ता विचारणीय नहीं का अस्तित्व नहीं तो इस प्रकार के ईश्वर का अस्तित्व में आना संभव नहीं। यदि इस प्रकार के ईश्वर का अस्तित्व है तो उसे अस्तित्व में आने के लिए बाद्धय किया गया या उसका अस्तित्व सोपाधिक होगा जो ईश्वर हमारी अवधारणा के अनुसार वह नहीं है। यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो यह संभव है कि उसका अस्तित्व समाप्त हो जाय। अत: यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो उसका अस्तित्व अनिवार्य ही होगा।'[७] एन्सेलम और मॉलकम के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि ईश्वर की अनिवार्य सत्ता इनके इस विश्वास से आपादित होता है कि ईश्वर एक ऐसी सत्ता है जिससे बृहत्तर अन्य सत्ता अविचारणीय है। अत: हम कह सकते हैं कि ईश्वर से हमारा तात्पर्य ऐसी सत्ता से है जिससे बृहत्तर अन्य सत्ता का विचार अविचारणीय है। यह इस बात को आपादित करता हैं कि यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो वह अनिवार्य रूप से अस्तित्वपूर्ण होगा। पुन:श्च यदि ईश्वर का अनिवार्य अस्तित्व स्वीकार्य है तो ऐसा मानना कोई अर्थ नहीं रखता कि ईश्वर के अस्तित्व की समाप्ति संभव है ऐसा कहना कि एक अस्तित्वपूर्ण ईश्वर के अस्तित्व की समाप्ति संभव है, आत्म व्याघाती होगा। जब हम ईश्वर से आत्म-विनाश की अपेक्षा रखते हैं तो यह एक तार्किक रूप से असंभव अपेक्षा है क्योंकि एक अस्तित्वपूर्ण ईश्वर के अस्तित्व की समाप्ति की चर्चा की जा रही है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ईश्वर द्वारा अपने आत्मविनाश की संभावना उसके सर्वशक्तिमत्ता को किसी भी रूप में प्रभावित नहीं करता।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईश्वर के अनिवार्य अस्तित्व की स्वीकृति इस कथन को तार्किक रूप में असंगत प्रमाणित करता है कि ईश्वर एक काल में अस्तित्ववान् होता है और कालान्तर में दूसरे काल में वह अस्तित्ववान् नहीं होता। अल्तीजर अपने विचार द्वारा कुछ इसी प्रकार की बात करना चाहते हैं इसलिए

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उनके द्वारा व्यक्त विचार असंगत सिद्ध होते हैं। इस प्रकार ईश्वरीय मृत्यु की चर्चा शाब्दिक रूप में करने का अब कोई उपयोग नहीं रह जाता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ईश्वरीय मृत्यु का ईशविज्ञान अपनी प्रासंगिकता खोने के प्रति उग्र प्रतिक्रिया या अनीश्वरवाद की अभिव्यक्ति है।

फिण्डले और सत्तामूलक तर्क

आधुनिक युग में यह विवाद का विषय है कि 'एक सत्ता जिससे बृहत्तर अन्य का विचार अविचारणीय है' को अवश्यसंभावी रूप से अनिवार्य सत्ता होना चाहिए या नहीं। इस प्रसंग में फिण्डले का विचार महत्त्वपूर्ण है। फिण्डले मानते हैं कि धार्मिक अभिवृत्ति का उपर्युक्त विषय अवश्य ही बृहत्तम कल्पनीय सत्ता होनी चाहिए। यह एक ऐसी सत्ता है जो हमारे अन्दर भय और आश्चर्य को सम्पूरित करता है और जिसके समक्ष हम सभी तुच्छ हैं। इस प्रकार के सत्ता को जब बृहत्तम कल्पनीय सत्ता कहते हैं तो इसका निहितार्थ यह होता है कि इस प्रकार के सत्ता को किसी प्रकार से सीमित नहीं किया जा सकता। यदि इस प्रकार की सत्ता किसी भी प्रकार से सीमित हो तो हम इससे बृहत्तम सत्ता की कल्पना कर सकते हैं जो किसी भी प्रकार से सीमित नहीं हो। अपने विचार को स्पष्ट करते हुए फिण्डले कहते हैं "हम अप्रतिरोध्य रूप से इससे और कठोर अभियाचना की ओर उन्मुख होते हैं। हमें ऐसा अनुभूत करने से सहायता नहीं मिल सकती कि भक्ति का उपयुक्त विषय ऐसा वस्तु नहीं हो सकता जो मात्र अस्तित्वपूर्ण हो। अन्य वस्तुओं का अस्तित्व मात्र ही इसके अभाव में विचारणीय नहीं बल्कि स्वयं इसका अनस्तित्व भी किसी भी अवस्था में अविचारणीय होना चाहिए। ईश्वर अवश्य ही पूर्णतः अनिवार्य है'।[८] फिण्डले[९] अनिवार्य अस्तित्व की अवधारणा को या तो अर्थहीन मानते हैं या असंभव। इनकी धारणा है कि अनिवार्य अस्तित्व तार्किक रूप में संभव नहीं, इसलिए इस अवधारणा पर आधृत ईश्वरीय अस्तित्व संबंधी सत्तामूलक तर्क असंगत प्रतीत होता है। यह इस तथ्य को आपादित करता है कि ईश्वरीय अस्तित्व को सत्तामूलक तर्क के आधार पर अप्रमाणित किया जा सकता है। धार्मिक विचारक यह सोचने को उत्सुक नहीं हो सकते कि उसके द्वारा स्वीकृत ईश्वर अनिवार्य सत्ता है, क्योंकि यह तार्किक रूप में असंभव है। ईश्वर के विचार में ही यह बात निहित है कि वह अस्तित्ववान् नहीं। इसके विपरीत एन्सेलम मानते हैं कि ईश्वर के विचार में ही उसका अस्तित्व सन्निहित है।

फिण्डले द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि 'हमें ऐसा अनुभूत करने से सहायता नहीं मिल सकती कि एक विषय हमारे लिए उपासना का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विषय तब तक नहीं हो सकता जब तक उसकी अनिवार्य सत्ता मान्य नहीं हो' का अर्थ क्या है ? इस प्रकार की असंभावना को आनुभविक नहीं माना जा सकता। मनुष्यों ने अपने उपासना के उपयुक्त विषय के रूप में असंख्य ईश्वरों को मान्यता दी है। हम इन ईश्वरों में विश्वास करते हुए भी अन्य वस्तुओं के प्रति अपना विश्वास प्रकट करते हैं जो ईश्वरों के परे हैं। पुनःश्च क्या इस स्थिति में 'अनुभूत करने में सहायता नहीं मिल सकती' को तार्किक माना जा सकता है ? फिण्डले शायद यह संकेत देने की इच्छा रखते हैं कि 'मैं 'क' की उपासना करता हूँ' का व्याघात उपस्थित हो जाता है जब 'क' अनिवार्य सत्ता नहीं होता। यह तभी संभव है 'जब मैं अनिवार्य सत्ता की उपासना करता हूँ' कथन विश्लेषी हो। फिण्डले की मंशा ऐसी ही है, पर ऐसा मानने का पर्याप्त आधार हमारे समक्ष उपलब्ध नहीं कि अनिवार्य सत्ता के अभाव में उपासना कोई अर्थ नहीं रखता।

फिण्डले का ऐसा मानना उपयुक्त प्रतीत होता है कि धार्मिक अभिवृत्ति में किसी न किसी रूप में मूलरूप से पूर्ण प्रतिबद्धता की बात की जाती है। धार्मिक अभिवृत्ति में भक्त को अपनी हीनता का बोध होता है। वह अपने को तुच्छ एवं हीन समझता है तथा ईश्वर के समक्ष अपने को बलिदान करने के लिए तत्पर रहता है। फिण्डले का दृढ मत है कि 'धार्मिक अभिवृत्ति में उपास्य ईश्वर के समक्ष प्रश्न रहित उत्साह के साथ अपने को तुच्छ समझने और घुटने टेकने की प्रक्रिया शाब्दिक या लाक्षणिक रूप में सम्मिलित है'। पूर्ण प्रतिबद्धता की अभिव्यक्ति के लिए किसी अभिकथन को विश्लेषी होना अनिवार्य नहीं। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। 'निर्दयता अन्यायपूर्ण है' एक परम नैतिक सिद्धान्त की अभिव्यक्ति हो सकता है जिसे व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में त्याग करने को उत्सुक, नहीं होता। पर इसका अर्थ यह नहीं लिया जाना चाहिए कि 'निर्दयता अन्यायपूर्ण है' कथन विश्लेषी है। कुछ लोग इस बात को स्वीकार करने को अधिक तत्पर हो सकते हैं कि 'निर्दयता अन्यायपूर्ण नहीं है' कथन अधिक अर्थपूर्ण है। एक व्यक्ति की नैतिक प्रतिबद्धता का अर्थ मात्र इतना है कि यह एक अभिकथन है जिसे किसी भी परिस्थिति में व्यक्ति उपस्थित करने को तत्पर नहीं होता। धार्मिक विश्वास के संदर्भ में चर्चित पूर्ण प्रतिबद्धता उपर्युक्त उदाहरण से बहुत साम्यता रखता है। एक विश्वासक विश्व और जीवन की कुछ निश्चित रूप में व्याख्या करता है और इसके अनुरूप क्रिया करता है। व्यक्ति इन्हीं व्याख्याओं के आलोक में नैतिक निर्णयों की स्थापना करता है। क्रिया के इस सिद्धान्त को व्यक्ति अपने लिए परम प्राधिकार मानता है, जिसे वह ईश्वरीय इच्छा के रूप में भी व्यक्त कर सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अत: हम कह सकते हैं जिस प्रकार 'निर्दयता अन्यायपूर्ण है ' उस व्यक्ति के लिए परम प्राधिकार बन जाता है जो इस सिद्धान्त में विश्वास करता है, उसी प्रकार विश्व और जीवन की धार्मिक व्याख्या एक विश्वासक के लिए परम स्थान रखता है। इस प्रकार की अवस्था में विश्वासक अपने आस्था के प्रतिकूल आनुभविक साक्ष्यों को देखकर भी इसे त्याग करने को तत्पर नहीं प्रतीत होता।

पुन:श्च 'ईश्वर मृत है' कथन को ईश्वर वह है जिससे बृहत्तर अन्य सत्ता विचारणीय नहीं और यह बृहत्तर विचारणीय सत्ता अनिवार्य सत्ता है जैसे सत्य कथनों पर आधृत मानना व्याघाती है। यदि इस प्रकार की स्थिति दुर्बल है तो इसका कारण यह है कि एक या दोनों ही कथनों को संघृत नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के कथनों पर दो प्रकार से आपत्ति की जा सकती है। प्रथम तो यह हो सकता है कि हम यह मानने से ही इन्कार कर दें कि ईश्वर एक ऐसी सत्ता है जिससे बृहत्तर अन्य सत्ता अविचारणीय है। ऐसा मानना असंतोषप्रद लगता है। एक अन्य संभावना यह है कि हम इसे स्वीकार करे कि ईश्वर का अर्थ एक ऐसी सत्ता से है जिससे बृहत्तर अन्य सत्ता विचारणीय नहीं और पुन: इसे अस्वीकार करें कि इस प्रकार की सत्ता का अनिवार्य अस्तित्व है। हम कह सकते हैं कि धार्मिक अभिवृत्ति का उपयुक्त विषय बृहत्तर संभावित सत्ता अवश्य है, पर इसमें अनिवार्य अस्तित्व की अवधारणा अन्तर्लीन नहीं।

यदि यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि एन्सेलम, मॉलकम और फिण्डले द्वारा चर्चित बृहत्तम संभावित सत्ता को बृहतता कैसे प्राप्त होता है। हम यह तर्क उपस्थित कर सकते हैं कि धार्मिक अभिवृत्ति का विषय बृहत्तम सत्ता होनी चाहिए। यदि हम यह मान लें कि यह सत्ता अपना नाश कर सकता है तो हमारे प्राक्कल्पना के विपरीत यह बहत्तम संभावित सत्ता नहीं हो सकता क्योंकि एक ऐसी सत्ता का विचार किया जा सकता है जो अपना नाश नहीं कर सकता। इस प्रकार बृहत्तम संभावित सत्ता की बृहत्तता मात्र इस तथ्य को सूचित करता है कि इसके अस्तित्व का न तो कोई आरंभ हो सकता है और न कोई अन्त। कुछ व्यक्ति इस प्रकार के बृहत्तम संभावित सत्ता पर आपत्ति करते हुए निम्नलिखित विचार उपस्थित कर सकते हैं। यदि यह मान लिया जाय कि ईश्वर को यह बोध होता है कि यदि वह अपने अनस्तित्व को वास्तविकता प्रदान करता है तो वह मानव के लिए सर्वोच्च सुविधा का विषय हो सकता है। इस प्रकार की संभावना को प्रागानुभविक रूप में अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक समय आता है जिस समय ईश्वर से आत्म-विनाश की क्रिया की अपेक्षा की जाती है, एक अनिवार्य सत्ता इस क्रिया के सम्पीदन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में अपने आपको असमर्थ पाता है। इस स्थिति में क्या यह नहीं कहा जा सकता कि यदि ईश्वर इस सर्वोच्च नैतिक क्रिया का सम्पादन करते हुए आत्मविनाश कर लेता तो यह सत्ता एक बृहत्तर सत्ता होता और इसे उपासना का उपयुक्त विषय माना जा सकता है। ईश्वर ऐसा नहीं कर पाता जो तार्किक रूप में अमर सत्ता के रूप में उसकी संस्थिति को परिवर्द्धित करता है। पर ईश्वरीय संस्थिति में परिवर्द्धन सही रूप में तभी संभव हो पाता है जब उसके पास सर्वोच्च नैतिक क्रिया को सम्पादित करने की संभावना हो। एक सत्ता जो स्वयं अपने आत्म-विनाश को आमंत्रित करता है, वह बृहत्तम नैतिक संभावनाओं से युक्त सत्ता होगी। इस चर्चा के आलोक में जब यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि हम किसे बृहत्तम सत्ता मानें उसे जो नैतिक बाध्यता रहते हुए भी आत्म-विनाश नहीं कर पाता या उसे जो कुछ निश्चित नैतिक बाध्यता की उपस्थित में आत्म-विनाश को सम्पादित कर एक उच्च नैतिक आदर्श प्रस्तुत करता है ? यदि 'बृहत्तम संभावित सत्ता' की व्याख्या जिस रूप में एन्सेलम ने प्रस्तुत किया है तो हमें यह मानने को बाध्य होना पडता है कि इस प्रकार की सत्ता के लिए कुछ नैतिक क्रियाओं जैसे आत्म-त्याग, प्रेम इत्यादि का सम्पादन असंभव है। हम यह कह सकते हैं कि धार्मिक उपासना के विषय के रूप में यह न्यून रूप में उपयुक्त है।

उपर्युक्त चर्चा का निहितार्थ यह है कि 'बृहत्तम संभावित सत्ता' को एक ऐसा अर्थ भी प्रदान किया जा सकता है जिसमें अनिवार्य अस्तित्व से उसका कोई संबंध नहीं रहता। इस प्रकार की सत्ता अनिवार्य रूप से अस्तित्व पूर्ण नहीं होते हुए भी कुछ नैतिक आदर्शों की पूर्ति की क्षमता रखता है। और इसीलिए अनिवार्य रूप से अस्तित्वपूर्ण 'बृहत्तम संभावित सत्ता' की अपेक्षा इसे अधिक बृहत माना जा सकता है।

उपर्युक्त चर्चा से यह परिस्पष्ट होता है कि ईश्वरीय अस्तित्व के संदर्भ में वर्णित अनिवार्य अस्तित्व की व्याख्या कुछ इस प्रकार भी किया जाना संभव है जहाँ यह ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। इस प्रकार फिण्डले अनिवार्य अस्तित्व के संबंध में जो आपत्ति करते हैं उससे सरलता से बचा जा सकता है। इस संदर्भ में ध्यातव्य है कि फिण्डले इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि ईश्वरीय अस्तित्व प्रतिकूल आनुभविक स्थितियों के बावजूद भी अनिवार्य हो सकता है। जब व्यक्ति इस बात के प्रति पूर्णरूपेण प्रतिबद्ध होता है कि चाहे जो भी आनुभविक स्थितियाँ हों हम ईश्वर की चर्चा ईश्वरवादी रूप में ही करेंगे तो शायद इस व्यक्ति को ऐसा करने से रोका नहीं जा सकता। इस बात की संभावना है कि किसी स्थल पर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आनुभविक परिस्थितियों और ईश्वरवाद में तनाव इतना असहनीय हो जाता है कि फिण्डले ईश्वरवाद को तिरस्कृत करने को तत्पर हो जाते हैं । परन्तु जब तक वे ऐसा नहीं कर पाते वे ऐसा मानने को प्रतिबद्ध हैं कि दर्द और दरिद्रता जैसे घटनाओं के पीछे भी सोद्देश्य ईश्वर कार्यशील है । इस विचार पर आपत्ति करते हुए कहा जा सकता है कि प्रतिकूल आनुभविक स्थितियों के बावजूद भी ऐसा विश्वास करना मूर्खता है । इस आपत्ति के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि ईश्वरवादियों के समक्ष अभी तक वह स्थिति उपस्थित हुई हीं नहीं है जो उन्हें विश्वास को तिलांजलि देने को बाध्य करे । इस प्रकार फिण्डले की यह आपत्ति निराधार प्रतीत होती है कि आनुभविक स्थितियों की प्रतिकूलता के बावजूद भी ईश्वरवादी रूप में विश्वास किया जा सकता है ।

उपसंहार

फिण्डले ने ईश्वरवादी अनस्तित्व को प्रमाणित करने के संदर्भ में इस बात पर बल दिया है कि ईश्वरीय अस्तित्व को अनिवार्य रूप से सत्य नहीं माना जा सकता। पर फिण्डले के ऐसा मानने का समुचित आधार उपलब्ध नहीं । ईश्वरीय अस्तित्व को समकालीन युग में कुछ इस प्रकार व्यक्त किया जाता है ।

(अ) ईश्वर अपने प्रकृतिवश अस्तित्ववान् है ।
(ब) ईश्वर है या नहीं एक खुला प्रश्न है ।
(स) अस्तित्व की अवधारणा ईश्वर पर आरोपित नहीं किया जा सकती।
(द) ईश्वर अपने प्रकृतिवश अस्तित्वपूर्ण नहीं ।

(अ) निश्चय ही एन्सेलम के सत्तामूलक तर्क का केन्द्र बिन्दु है । (द) फिण्डले के सत्तामूलक अनीश्वरवाद का केन्द्र बिन्दु है । (ब) और (स) को ईश्वर में विश्वास करने वाले या नहीं करने वाले दोनों ही स्वीकार कर सकते हैं । जहाँ तक सत्तामूलक तर्क के परिभाषात्मक अभिकथन का सम्बन्ध है, ईश्वरीय अनिवार्य अस्तित्व की सत्यता अस्पष्ट है, पर इसके सत्य होने की संभावना है । अत: फिण्डले अपना निष्कर्ष इन आधार वाक्यों के आधार पर स्थापित नहीं कर सकते। इस स्थल पर फिण्डले यह विचार उपस्थित कर सकते हैं कि अपने अस्तित्वपरक अभिकथन कि 'ईश्वर अपने प्रकृतिवश अस्तित्वपूर्ण नहीं' के संदर्भ में सत्तामूलक तर्क का प्रतिवाद सत्य प्रतीत होता है । अस्तित्वपरक रूप में ईश्वरीय अनस्तित्व की चर्चा परिभाषात्मक विषय नहीं बल्कि एक विलक्षण अन्वेषण है, जिसे हम किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं । इस बिन्दु पर यदि यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि ईश्वर के सम्बन्ध में किसका बोध सही हो सकता है, फिण्डले की या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एन्सेलम का। निश्चय ही, यदि ईश्वर अपने प्रकृतिवश इस विश्व में अस्तित्ववान् है तो वह अस्तित्वपूर्ण होगा ही। सत्तामूलक तर्क में अन्तर्निहित अस्तित्वपरक अभिकथन की सत्यता संदेह का विषय हो सकता है। फिर भी इस अस्तित्वपरक अभिकथन को सत्य प्रमाणित करने के लिए कुछ दिशाओं का बोध संभव है। यदि फिण्डले को अपने विचार के समर्थन में कुछ तुल्य रूप प्रस्तुत करने को कहा जाता है तो वे ऐसा नहीं कर पाते। ऐसा कोई भी तुल्य रूप नहीं जिसके आधार पर फिण्डले सत्तामूलक तर्क के उस अभिकथन की सत्यता का अवलोकन कर सकेंगे जो अस्तित्वपरक नहीं। ईश्वर में विश्वास करने वालों को ईश्वर की अनिवार्य सत्ता का बोध इसलिए हो सकता है क्योंकि उनकी यह मान्यता है कि ईश्वर के अभाव में यह विश्व संभव नहीं या यह विश्व ईश्वर पर आश्रित है। अपने इस विचार की प्रासंगिकता का अवलोकन ईश्वरवादी इस प्रश्न में करते हैं कि किसी वस्तु का अस्तित्व क्यों होना चाहिए ? क्या इस संबंध में फिण्डले द्वारा तुल्यरूपी प्रश्न उपस्थित करने की संभावना है ? ऐसा संभव प्रतीत नहीं होता। इस संबंध में जो सबसे निकट का प्रश्न उपस्थित किया गया है, वह यह है कि अशुभ क्यों है, यदि प्रेममय ईश्वर है। पर फिण्डले ने अशुभ और प्रेममय ईश्वर के साथ इसकी संभावित अतुलनीयता के आलोक में कभी विचार नहीं किया है। यदि वे ऐसा कर पाते, यह उनके लिए सुविधाजनक उस स्थिति में भी नहीं होता। इस प्रश्न का उत्तर अनेक रूपों में दिया जा सकता है। हम कह सकते हैं कि ऐसा इसलिए होता है क्योंकि ईश्वर नहीं है या क्योंकि ईश्वर के पास एक उद्देश्य है, जिसका हमें अति क्षीण अनुभव होता है। यदि इस प्रश्न का समाधान दिया जाय तो यह हमें अनिवार्य रूप से इस अभिकथन की ओर उन्मुख नहीं करता कि ईश्वर नहीं है बल्कि इस अभिकथन की ओर उन्मुख करता है कि अनिवार्य रूप से एक ईश्वर है। फिण्डले के लिए जिज्ञासा का मुख्य विषय ईश्वर और आपातिक वस्तुओं के साथ सम्बन्ध है। मुझे नहीं लगता कि इस प्रश्न पर विचार करते हुए किसी भी तरह हम इस निष्कर्ष पर आ सकते हैं कि ईश्वर नहीं है। प्रश्न मात्र एक है और वह है आपातिक वस्तुओं का अस्तित्व क्यों है ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए हम एक मात्र इसी निष्कर्ष पर आ पाते हैं कि इनका अस्तित्व इसलिए है क्योंकि ईश्वर अनिवार्य रूप से अस्तित्वपूर्ण है।

उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट है कि फिण्डले द्वारा प्रस्तुत सत्तामूलक अनीश्वरवाद मिथ्या है। यदि इसे परिभाषात्मक रूप में स्वीकार किया जाता है तो भी यह मिथ्या ही सिद्ध होता क्योंकि इस विचार के विपरीत एक ईश्वर परिभाषात्मक रूप में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनिवार्य रूप से अस्तित्ववान् है । यदि सत्तामूलक के प्रतिवाद का अर्थ इसके अस्तित्वपरक अभिकथन को लिया जाय, तो इस प्रकार के अभिकथन की सत्यता हमारे लिए आश्चर्य का विषय बन जाता है । इस प्रकार के अभिकथन की सत्यता का बोध हो पाना किसी भी रूप में संभव नहीं लगता । इसके विपरीत सत्तामूलक तर्क द्वारा व्यक्त अस्तित्वपरक अभिकथन की सत्यता का बोध हो पाना हमारे लिए संभव प्रतीत होता है ।

अन्ततः इस निष्कर्ष पर आते है कि न तो अलतीजर द्वारा प्रतिपादित ईश्वरीय मृत्यु विषयक शाब्दिक अभिकथन सत्य है और न फिण्डले द्वारा प्रतिपादित सत्तामूलक अनीश्वरवाद । ईश्वरीय अस्तित्व संबंधी सत्तामूलक तर्क और ईश्वरीय अनस्तित्व संबंधी सत्तामूलक तर्क एक ही साथ सत्य नहीं हो सकते । फिण्डले के लिए बेहतर तो यह होता कि 'ईश्वर से बृहत्तर अन्य सत्ता अविचारणीय है ' को अपने धार्मिक अभिवृत्ति का विषय नहीं बनाते । यह लेख ईश्वरीय अस्तित्व की असंभावना से इन्कार नहीं करता, परंतु फिण्डले जैसे विचारकों द्वारा प्रयुक्त मूल अवधारणाओं का विरोध अवश्य करता है । फिण्डले अनिवार्य अस्तित्व में अन्तर्लीन व्याघात को नहीं स्पष्ट कर पाये है । अतः सत्तामूलक तर्क और सत्तामूलक अनीश्वरवाद एक ही केन्द्रीय अवधारणा पर आश्रित नहीं हो सकता ।

आनंद विहार, बैंक कॉलनी के निकट — डॉ. विजय कुमार सिन्हा
अनुग्रहपुरी, गया ८२३००१ (बिहार)

'हिरा कुंज', ३०७ अनुग्रहपुरी — डॉ. अरुण कुमार प्रसाद
गया ८२३००१ (बिहार)

टिप्पणियाँ

१. विलियम हेमील्टन, द न्यू एसेन्स ऑफ क्रीश्येनीटी (न्यू आर्क एसोसियेशन प्रेस, १९६१)

२. पॉल मेन बुरेन, द सेक्युलर मीनिंग ऑफ द गॉस्पल (लंदन, एस. सी. एम. प्रेस, १९०३)

३. थामस अलतीजर,द गॉस्पल ऑफ क्रीश्चन एथीज्म (लंदन, कॉलीन्स, १९६७) पृ.११३.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४. जान हिक, फिलासफी ऑफ रिलीजन, (प्रेन्टिस हाल, आर. एन. सी. इंगलवुड क्लिफ, न्यू जर्सी, १९६३) पृ.१६-१७
५. एस.एन.दीन, प्रोसोलिजियम (लासेले, १६४८ अध्याय १४)
६. जान हिक (सं.), व एक्जिसटेन्स ऑफ गॉड में उद्धरित, एन्सेलम आनटॉ लॉजिकल आर्गुमेन्ट (न्यू यॉर्क मैकमीलन, पेपरबैक्स)
७. वही, पृ.५६
८. एन्टोनी फ्लू एण्ड ए. मैकेनटायर, कैन गाड्स एक्जिसटेन्स बी डीस्प्रूफ्ड
९. (सं.) एन्टोनी फ्लू , न्यू एसेज इन फिलासाफिकल थियोलाजी, (एस. सी. एम. प्रेस) पृ.४९

★

भारतीय दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान

ले. डॉ. सुद्युम्न आचार्य, रीडर, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग मु.म. टाऊन पोस्टग्रॅज्युएट कॉलेज, जि.बालिया, (उ.प्र.)२७७००१

भारतीय दर्शन में प्रतिपादित भौतिक सिद्धान्तों का विकास तथा दर्शन-संप्रदायों के साथ तुलनात्मक अध्ययन का आधुनिक विज्ञान के आलोक में निरूपण प्रस्तुत है । दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधुनिक वैज्ञानिक संमति चाहनेवालों के लिए यह ग्रंथ विशेष महत्त्व रखता है। गंभीर विषय को रंजक भाषा में लिखते हुए खोजपूर्ण जानकारी से पाठक सम्मोहित होता है । चित्रों एवं चार्टों का यथासंभव उपयोग किया है । उत्तम कागज, सुंदर छपाई, बढिया जिल्द तथा नयनाभिराम कवर से ४०० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य : पुस्तकालय संस्करण रु.२५०/- साधारण पेपरबॅक संस्करण रु.१२५/- प्रथम खंडः प्रकाश एवं दृष्टिविज्ञान रु.३०/- द्वितीय खंडः ध्वनि एवं श्रवणविज्ञान रु.३०/- तृतीय खंडः वायु एवं स्पर्शविज्ञान रु.२५/- चतुर्थ खंडः जल एवं रसना विज्ञान रु.२५/- पञ्चम खंडः पृथिवी एवं गंध विज्ञान रु.२०/- पुस्तक के लिए लेखक के पते पर या निम्न पते पर मँगावें - विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी (उ.प्र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साहित्य की पठनीयता : दशा और दिशा

रचनाकार और पाठक के बीच का सम्बन्ध उसके द्वारा सार्थक एवं सुव्यवस्थित रूप में रखे गए शब्दसमूह (जिसे उसकी भाषा कहा जाता है) द्वारा होता है । ये शब्द रचनाकार की विशुद्ध अनुभूति के प्रतीक होते हैं । विशुद्ध अनुभूति साहित्य का मूलाधार है । भावों और अनुभूतियों की अनन्तता के साथ-साथ जीवन के असंख्य राग-रूपों के अनुरूप साहित्य भी अनेक रूप धारण करता है । पाठक के हृदय में अनुभूति की अनुकृतिभाषा के माध्यम द्वारा होती है । साहित्य में विषय ही महत्त्वपूर्ण नहीं होता बल्कि उसका रूप और शैली भी महनीय होती है । इन दोनों पक्षों के समुचित संयोग से साहित्य से अनुभूति की घनीभूत तीव्रता जो साहित्यकार की चेतना से छनकर आती है पाठकों को प्रेरणा प्रदान करने की शक्ति रखती है । साहित्यकार अपनी सूक्ष्म, तीव्र और घनीभूत अनुभूति को शब्दों के माध्यम से अपने और पाठकों के बीच एक सेतु का निर्माण करता है ।

साहित्य का अपना सत्य होता है । उस सत्य की स्थापना करने का उनका अपना ढंग होता है । साहित्य का सत्य साहित्यकार के कल्पनाजगत् के मूल से सन्निहित हुए सत्य में ही दृष्टिगोचर होगा । एक समाचारपत्र द्वारा बताई गई दुर्घटना और कविद्वारा वर्णित दुर्घटना में अन्तर होता है । पत्र हमें केवल समाचार देता है । कवि उस दुर्घटना को अपनी कल्पना से पुनर्जीवित कर हमारे सामने उपस्थित करता है । जो कार्य चित्रकार अपनी तूलिका से करता है वह कार्य कवि अपनी भाषाशक्ति द्वारा करता है । प्रतिभा और छाया के समवाय में, साकार और निराकार के संकलन में, सत् तथा असत् के तादात्म्य में ही कल्पना शक्ति निहित रहती है । कल्पना का मनुष्य के मनोवेगों से सीधा सम्बन्ध है और मनोवेगों में उत्कटता उत्पन्न करने के लिए मनोवेग का औचित्य, मनोवेग की विशुद्धता और शक्ति, मनोवेग स्थिरता, मनोवेग की विविधता, मनोवेग की वृत्ति अथवा उसका गुण– ये पाँच तत्त्व स्वीकारे गए हैं । ये ही बाते हैं जिनके आधार पर हम देशकाल की सीमा से स्वतंत्र हो भावजगत् में जा पहुँचते हैं । भावपक्षद्वारा पुष्ट मनोवेग ही उच्चश्रेणी के होते हैं । हमारे हृदय की सम्पूर्ण वृत्ति के साथ उनका सम्बन्ध होता है । साहित्यकार की रचना जीवनतत्त्व से विहीन नहीं होती । तुलसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के 'मानस' से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है और मैथ्यू आर्नल्ड ने भी साहित्य के इस पक्ष को स्वीकार किया है।

आधुनिक मशीनीयुग से पूर्व के दिनों में मनुष्य की जिन्दगी की गति मन्द थी फलत: आदमी कला, संस्कृति और साहित्य के प्रति संवेदनशील होता था। आज की मशीनी-जिन्दगी ने सबसे अधिक चोट पहुँचायी है तो मानवीय संवेदना पर और संवेदना वस्तुत: साहित्य सर्जना और उसकी ग्राह्यता का मूलाधार होती है। जब संवेदना ही नहीं है तो उसकी पठनीयता पर प्रश्नचिह्न लगना स्वाभाविक है। आज समाज अर्थ केन्द्रित हो गया है। व्यक्ति सोचने लगा है कि पुस्तक पढ़ने से हमे लाभ क्या मिलेगा। पैसा तो मिलता नहीं तब फिर पुस्तकें क्यो पढ़ूँ ? जबकि सम्यक् साहित्य के पढने से मनुष्य के मन:संवेग से रचनाशीलता बढती है। वह जिस क्षेत्र में भी काम करेगा वहाँ उसकी बढी हुई रचनाशीलता का परिणाम स्पष्ट दिखने लगेगा। सम्यक् साहित्य के पढने के प्रति रुचि-अभिरुचि के कम होने का परिणाम आज यह हुआ है कि लोग पहले की तुलना में अधिक मानसिक बीमारियों के शिकार होने लगे हैं। उनके जीवन में तनावों का तांडव हो रहा है। आज संसद में बजट की बहस है पर नवीनतम प्रकाशित साहित्यिक कृति पर कोई चर्चा नहीं है। साहित्य इन सब कारणों से हाशिए पर आ गया है। फिर साहित्य की पठनीयता का प्रसंग आज कितना सार्थक हो जाता है।

साहित्य जागरण की वस्तु है। साहित्य को देश, काल और समाज के प्रसंग से काटकर नहीं देखा जा सकता। हमारे देश, काल और समाज का हाल क्या है ? जिस देश की पूरी शिक्षा व्यवस्था कुशिक्षितों की जमातें पैदा करने के उद्देश्य में नियोजित हो, वहाँ साहित्य की समाज में पहुँच की सारी सम्भावनाएँ स्वत: समाप्त हो जाती हैं। ऐसी विशेषज्ञता या विद्वत्ता का कोई मूल्य नहीं यदि वस्तु को आदमी से जोडकर देखने की दृष्टि नदारद हो। हमारे प्रत्येक कर्म का देश, काल और समाज से गहरा वास्ता हैं। इस चेतना से शून्य सुविज्ञ सबसे बडा अविज्ञ है और साहित्य अविज्ञों के व्यवहार की वस्तु नहीं। साहित्य की समाज तक आवाजाही के प्रश्न पर विचारते समय यह ध्यान देना आवश्यक होगा कि समाज की दशा और दिशा क्या है ? आज की स्थितियों में सिर्फ वही लोग कुछ सकारात्मक पहल कर सकते हैं जो रेगिस्तान मे खेती का सपना साकार करने का दमखम रखते हो। हिन्दीभाषी समाज साहित्य के प्रचार-प्रसार के संकल्प में कंधे पर झोला लटकाये घूमनेवाले एक विशाल रेगिस्तान से कम नहीं। इस स्थिति पर सरकार ने विजयश्री हासिल कर ली है। उसने लेखक को समाज तक पहुँचने के सारे रास्तों पर खुद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चौकसी हेतु चौकियाँ स्थापित कर दी हैं। साहित्य की बिक्री का सवाल अब उसे गाँजा-भाँग और शराब की विक्री से कम महत्त्व का नहीं है। बाजारु किताबों और पत्रिकाओं से सारे 'बुकस्टाल' पाट दिए जा चुके हैं। साहित्यिक पुस्तकों के पढने-पढाने का जमाना कब का लद गया है। सामने तमसा की नदी बह रही है। आज साहित्यकार बने-फिरने के लिए सरकार का अनुग्रह एकमात्र मार्ग रह गया है। इसीलिए हिन्दी के अधिकांश लेखक अपना समय समाज की तरफ जानेवाली पगडण्डियाँ तलाशने की जहमत उठाने की जगह सत्ता की तरफ खुले प्रशस्त पथ में बिता रहे हैं। नाना राजनैतिक पार्टियों के लेखक-संगठनों में भर्ती होने की होड़ ही लेखकों में इसलिए है कि ये साहित्य के क्षेत्र में भी राजनैतिक दलाली का काम करती है। सत्ताकेन्द्र से सीधा तालमेल होने से, लेखकों की विभिन्न संस्थाओं-समितियों में नियुक्तियों, पुस्तक-खरीदों, पुरस्कारों और विदेशयात्राओं का एक निर्धारित कोटा इन राजनैतिक पार्टियों के पास होता है, जिसके माध्यम से ये लेखकों का मुँह, समाज की जगह, सरकार की तरफ मोडती हैं। आज जो देश के अधिकांश लेखक समाज के सुलगते सवालों से इतने उदासीन और बेसरोकार दिखाई पड रहे हैं, इसका एकमात्र कारण लेखकों का राजनैतिक ठेकों पर उठ चुका होना ही है। लेखक जितना संघबद्ध हुआ उतना ही समाज से कटता गया है। जब साहित्यकार समाज के लिए अप्रासंगिक और निष्प्रभावी हो चुके हों, तब उनकी किताबों के समाज में मान्यता पाने की सम्भावनाएँ कितनी होंगी? समाज में आवाजाही छोडकर, सत्ताकेन्द्रों के इर्द-गिर्द मँडराते लेखको की किताबे खरीदने की जिम्मेदारी समाज पर आयद नहीं होगी।

साहित्यिक पुस्तकों की बिक्री के रास्ते बंद हो गए होने का रास्ता रोनेवाले लेखकों को सबसे पहले इस सवाल का जबाब देना होगा कि वह व्यवस्था और समाज, दोनों को साथ-साथ दुहने का रोजगार आखिर कब तक चलाना चाहते हैं ? जिन्हें समाज की दुर्दशा से कोई वास्ता न हो, जो राजसत्ता के परकोटों के भीतर ही खुद ही सुरक्षा देखते हों और जिन्हें समाज की कठिन दिशा में चलने की कल्पना करने में भी झुरझुरी सी छूटती हो, उन्हें इस शिकायत का कोई हक नहीं ठहरता कि लोग साहित्य को खरीद कर पढने की बजाय दारू खरीदना ज्यादा जरुरी क्यों समझते हैं। इस प्रश्न को झुठलाया नहीं जा सकता कि साहित्य सरकारी ठेके की सामग्री क्यों हो गया है ? कितने लेखकों के लिए साहित्य अस्तित्व का सवाल है ? जो यह मानते हों कि उनकी निर्याति व्यवस्था नहीं, समाज से जुडी है ? जिन्हे व्यवस्था के पद-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुरस्कार-अलंकार जुटाने से ज्यादा चिन्ता समाज को जगाने की हो ? दो दशक पूर्व आपात स्थिति के समय एक ही झटके ने देश के सारे लेखकों को नंगा करके छोड दिया तो क्या यों ही? समाज से पगहा तुडाकर व्यवस्था के तबेलों में एकत्रित लेखकों से आप क्या आशा कर सकते हैं कि परस्पर में संगठित होकर, साहित्य को समाज तक पहुँचाने का अभियान चलाएँगे । साहित्य की पठनीयता का सवाल क्या बेमानी नहीं हो जाएगा ? समाज में कोई औकात न होने से ही लेखक की व्यवस्था में भी कोई औकात नहीं रह गई है । हम व्यवस्था पर दबाव डाल सकते हैं कि उसने साहित्य की समाज तक आवाज ही के रास्ते क्यों ध्वस्त कर दिए है ? यदि ये तथाकथित लोग ठान लें कि साहित्य को समाज की दिशा में आगे बढाना है तो स्थिति में बदलाव आना शुरू हो जाएगा । जिन लोगों की राजनैतिक पार्टियों और सत्ताकेन्द्रों तक पहुँच हैं उनकी दृष्टि में समाज उनके ठेंगे पर है । नहीं पढना चाहते, न पढें लोग साहित्यिक पुस्तकें इससे इनकी सेहत पर क्या फर्क पडता है ? न बिकें किताबें पाठकों में सालभर में दस-बीस प्रतियाँभी, सरकारी खरीदों में तो 'थोक आर्डर' पक्के हैं । इसलिए समाज में साहित्य की पहुँच की समस्या अर्थात् साहित्य की पठनीयता के सन्दर्भ में विचारते समय थोडा अपने गिरेबान में झाँक लेना आवश्यक होगा कि समाज से सरोकार का सिला क्या है ? लेखकों का यही चरित्र बरकरार रहते जनता में साहित्य के पठन-पाठन की प्रेरणा जगाने की उम्मीदें बेकार हैं । व्यवस्था का तर्क यही है कि सिर्फ अपनी चिन्ता करो, लेखक भी केवल अपनी फिक्र करते हैं । थोडी-बहुत चिल्लपों अगर उनके द्वारा हुई तो भी जनता को प्रेरित करने की मंशा से नहीं बल्कि सरकार का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने की भावना से । आज अधिकांश लोग व्यवस्था के अभयारण्यों में पगुराते मिल जायेंगे । जो बाहर छूट गए हैं वे भी समाज से जुडने का इरादा नहीं रखते अपितु व्यवस्था के नकारा होने की बात कहते हैं । जो समर्थ हैं वे समर्थों के खेमे में जा पहुँचे हैं । बचे हुए तलछँटे लोगों द्वारा जनता में श्रेष्ठ साहित्य के पठन-पाठन की अभिरुचि जगाने का काम उनके सामर्थ्य से परे है । सरकार के विरुद्ध चिल्लाने वाला लेखक वही होता है जिसे कोटे के राशन-पानी में हिस्सा न मिला हो । जबकि समाज की गवाही देने का हक केवल उसे जाता है जिसे हरताल में समाज के भरोसे रहना हो । जिसकी अपनी चाकरी पर अटूट आस्था हो। जो मानता हो कि समाज राज्यसत्ता से बडी चीज है । जिसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आश्वस्ति है कि उसकी पगार कहीं नहीं जाएगी। जिसे विदित हो कि समाज चुकाता है तो व्याज सहित चुकाता है।

जनता में साहित्य के पठन-पाठन की रुचि और प्रेरणा जगाने के सवाल से पूर्व समाज में आस्था का सवाल पहले है। लेखक में यह समझ अवश्य होगी कि उसे बंजर में खेती करनी है। हमसे जब तक सरकारी अनुदानों और मेहरबानियों का मोह नहीं छूटेगा तब तक समाज से जुडाव-जडाव की बात झूठी है। दूरदर्शन और आकाशवाणि में साहित्य-कला और संस्कृति की उपयोगिता, व्यवस्था की गंध को सुगंधित बनाने से ज्यादा कुछ नहीं है। व्यवस्था के संचार-प्रसार माध्यमों से जनता में साहित्य के पठन-पाठन की प्रेरणा जगाने की उम्मीद कायम होने का मतलब ही मकडजाल में जकडा होना है। समय बहुत बलवान होता है। यह अँधेरे का वक्त है। इसे हमेशा नहीं रहना, मगर जब तक है तब तक यही सच है।

पठनीयता का जादू सिर चढकर बोले इसके लिए हमें पहले यह तय करना चाहिए कि किस प्रकार की पुस्तकें पढने में पाठकगण रुचि रखते। व्यक्ति विशेष की रूचि और इच्छा के अनुसार खरीदी गई पुस्तकें अक्सर कम लोग दढेंगे और हमारा पाठक वर्ग सीमित रहेगा। इस स्थिति से बचने के लिए अलग-अलग वर्गों के पाठकों की सिफारिशों के आधार पर बनाई गई सूचि में सभी वर्गों की रुचि की पुस्तकों का अपने आप समावेश होगा। पुस्तकें अलमारी में ही नहीं रहेंगी। वैसे अलमारी में रखी एक-एक पुस्तक को लेकर कहा जा सकता है कि हर-एक पुस्तक की किस्मत में कोई न कोई पाठक और हर-एक पाठक के लिए कोई न कोई पुस्तक होती है। दुनिया में आज तक कभी कोई औरत या आदमी इसलिए खत्म नहीं हुआ कि उसके प्रेम का पात्र बनने लायक व्यक्ति दुनियाभर में है ही नहीं। उसी प्रकार लोग-हजारों हों या करोडों- उनमें से हर-एक की अपनी एक पसंद होती है और उस पसंद के अनुरूप पुस्तक भी पुस्तकों की दुनिया में मौजूद होती है। जरूरी सिर्फ एक-दूसरे की जरूरत महसूस करने वाले दो तत्त्वों को पास-पास लाने की है।

हमारे पुस्तकालय की लेखा परीक्षा करते समय एक अधिकारी ने सवाल किया था - "साल में दस हजार की पुस्तकें खरीदी और पढने वाले सिर्फ दस-बारह निकले, यह क्या है?"

हमने यह घाव झेलकर जबाब दिया था - "अजी साहब, यहाँ पर पढने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के लिए वक्त किस के पास है । टी. वी. क्या आया, पढना बंद हुआ, लिखना बंद हुआ, आपस में बात करना तो दूर, घर में एक-दूसरे का चेहरा तक... और ऊपर से हिन्दी की ये पुस्तकें..."

लेखापरीक्षक महोदय ने हमारी दलील ध्यान से सुनकर बडे ही मार्मिक अंदाज में कहा –

"जानते हो मछली कैसे पकडी जाती है ?"

"जाल बिछाकर ।" – हमने कहा ।

"नहीं, इससे भी अधिक एक और कारगर तरीका है मछली फँसाने का काँटा डालकर । पतली-सी रस्सी में लोहे का हुकनुमा एक काँटा बाँधा जाता है और उस काँटे में मछली की पसंदीदा चीज---"

" मतलब ?"

लेखा परीक्षक महोदय बोले – "पहले इस बात का पता करो कि लोग कैसी चीज ज्यादा पसंद करते हैं । उनकी पसंद मालूम करके पुस्तक खरीदो। देखना, लोग पुस्तकें लेने के लिए लाईन लगा लेंगे ।"

यही हुआ भी । हमने लोगों की रुचि का अध्ययन करके पुस्तकों की एक सूचि बना ली । निष्कर्ष यह निकला कि लोग पैसा बनाने, नाम कमाने तथा हिंसा, स्वास्थ्य और पारिवारिक जीवन, सेक्स, आराम और पत्नी की खुशी – ऐसी तमाम चीजों पर लिखीं पुस्तकें पढना चाहते हैं । इस सूची में भी अधिकांश लोग सेक्स सम्बन्धी पुस्तकों को ही पढने के आग्रही थे । फिर भी, पाठकों की वृद्धि हेतु इस तरह के उपाय भी करने ही पडते हैं । इस कम्प्यूटरी की भागदौड में मुफ्त की पुस्तकें पढवाना भी मुश्किल हो गया है। महान्, वजनदार और विख्यात लेखकों का अभिजात्य साहित्य भी अलमारियों में अनछुआ पडा रहता है । इस चक्रव्यूह को तोडने का भी एक सफल प्रयास और प्रयोग होना चाहिए । हमारे पुस्तकालय में कालिदास, शेक्सपीयर से लेकर आज के जमाने के लेखकों तक की पुस्तकें मौजूद हैं । समझ में नहीं आता कि इतनी कीमती व विख्यात पुस्तकें बार-बार अपील करने के बावजूद कोई क्यों नहीं पढता ? एक सुझाव कौंधता है क्यों न हर-एक पुस्तक की थीम के साथ पुस्तक के आकर्षक अंश पाठकों की नजर में लाये जायें । इससे प्रभावित होकर लोग उस पुस्तक के पीछे पड जायेंगे । इसके लिए अपने साथियों का एक ग्रुप बनाया जाये । हर एक को पाँच-पाँच पुस्तकें देकर कहा जाए कि इन्हें पढकर जहाँ पर थी आकर्षक अंश नजर आएँ, वे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पँक्तियाँ कागज पर उतार लें। साथ ही ये सभी पुस्तकें पढकर और एक-एक पृष्ठ पर हर पुस्तक का सार उतारकर हम हर-एक पुस्तक के बारे में अपील करें, पत्र भेजें आदि। निश्चय ही कुछ-ही वर्षों में जिन्होंने शेक्सपीअर, कालिदास, भारतेन्दु आदि को पढा नहीं है वे पुस्तकें धडाधड पढी जानें लगेंगी। उदाहरण के लिए 'मैकबैथ' के बारे में इस प्रकार प्रचार-प्रसार करेंगे — बन्धुओं, पैसा या प्रतिष्ठा कमाने के लालच को क्या आपकी पत्नी ने कभी भडकाया है ? आमतौर पर औरतें हमें भडकाती रहती हैं। बेलोना सुन्दर व महत्त्वाकांक्षी स्त्री है, जो अपने नेक और पराक्रमी पति को आदरणीय राजा का कत्ल करने को उकसाती है। खून के गहरे दाग कई-कई कोशिशों के बाद भी धुलते नहीं.... आग लगाकर उसमें खुद भी जल जानेवाली उस औरत की कहानी पढिए 'मैकबैथ' में।

इसके अलावा यात्रा के दौरान हम जितने भी लोगों से मिलते हैं, जितने भी लोगों को देखते हैं, यदि उनकी जीवन-शैली, दृष्टिकोण, रहन-सहन, सामाजिक स्थिति, मानसिकता, संस्कार, व्यवहार इत्यादि का अध्ययन और विश्लेषण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कर लें तो उनके मनोविज्ञान उनके साथ अपने व्यवहार, अपील की प्रतिक्रिया, भाषाविषयक आग्रह-इन सभी बातों को आगे बढाना आसान हो जाता है। लोगों की मानसिकता, भाषाविषयक दृष्टि और विशेषरूप से हिन्दी के बारे में उनकी धारणाएँ एक बार समझ लेने पर हम उन्हें इस बातके लिए प्रेरित कर सकते हैं कि वे कौन सी पुस्तक का वाचन करें। दूसरी तरफ लोगों से मिलने-जुलने से हमें इस बात का पता चलता है कि आम पाठक कौन सी पुस्तक समझ सकते हैं, पसंद करते हैं या पढ सकते हैं। स्पष्ट है कि ये सब बातें हम अपने विभाग के टेबुल पर बैठे-बैठे नहीं जान सकते, इसके लिए गोष्ठियों, सेमिनारों, साहित्यिक उत्सवों आदि आयोजनों में सक्रिय भागीदारी कर साहित्य की पठनीयता की स्थिति को सुदृढ कर सकते हैं।

मंगल कलश
३९४, सर्वोदयनगर, आगरा रोड,
अलीगढ - २०२००१ (उ. प्र.)

डॉ. आदित्य प्रचण्डिया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna A.M. Ghose(eds), Comtemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran.) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi(ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A. M. Ghose and P. K. Srivastaav(eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and P. P. Gokhale(eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities(upto 1980), Part I, Rs. 50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs. 25/--

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs. 30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs. 100/-

Contact :

The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Pune,
Pune-411007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रंथ-समीक्षा

-१-

नरसिंहाचार्य, एम्., **काँट्रिब्युशन्स ऑफ यामुनाचार्य टू विशिष्टाद्वैत** श्री जयलक्ष्मी पब्लिकेशन्स, हैदराबाद, १९९८, पृ. ३५३, मूल्य रु. ३००।-

भारतीय दर्शनों में विशिष्टाद्वैत का अपना एक स्थान है। अद्वैत-वेदांत का नाम सुनते ही जैसे श्री शंकराचार्य का नाम सामने आता है वैसे ही विशिष्टाद्वैत का नाम सुनते ही श्री रामानुज का नाम सामने आता है। रामानुजाचार्य के परमाचार्य हैं श्री यामुनाचार्य। उन्होंने जिन तत्त्वों की नींव रखी थी उन्हीं पर रामानुजाचार्य का पूरा दर्शन सम्हल पाया है इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का स्मरण प्रस्तुत पुस्तक में लेखक हमें करा देते हैं। ग्रंथ के अंतिम भाग में डॉ. नरसिंहाचार्य एक महत्त्वपूर्ण बात उठाते हैं कि 'विशिष्टाद्वैत' इस नामाभिधान का प्रयोग रामानुजाचार्य के उत्तरवर्ती काल में मिलता है। (पृ. ३१०, पादटिप्पणि १०९५) इस शब्द का प्रयोग पहली बार शायद सुदर्शनसूरीने या फिर वडुगनंबीने किया हो ऐसे प्रमाण उपलब्ध है। रामानुजाचार्य 'विशिष्टद्रवैक्य' शब्द का प्रयोग करते हैं, न कि 'विशिष्टाद्वैत' शब्द का। संशोधन की दृष्टि से यह बात ध्यातव्य है अत: इस पर जोर दिया गया है। क्यों कि यह नामाभिधान इस संप्रदाय के आचार्य खुद नहीं देते हैं, फिर भी वही नामाभिधान प्रसिद्ध एवं प्रचलित होता है और उस आचार्य के नाम के साथ जुड कर शेष व्यवहार होता रहता है।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना बहुत ही अभ्यासपूर्ण ढंग से की गयी है। रामानुज के पूर्ववर्ती विचार तथा यामुनाचार्य के पूर्ववर्ती आचार्य इन के बारे में पार्श्वभूमि बनाकर यामुनाचार्य का तात्त्विक परिचय दिया है। उस के बाद यामुनाचार्य का दर्शन, रामानुज पर पडा उन का प्रभाव तथा विशिष्टाद्वैत परंपरा में उन का योगदान स्पष्ट किया है। यामुनाचार्य के उपलब्ध पाँच ग्रंथ- श्री स्तुति, स्तोत्ररत्न, गीतार्थ संग्रह, आगमप्रामाण्य तथा सिद्धित्रय- इन का विस्तृत परीक्षण प्रस्तुत किया है। खेद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की बात यह है कि सिद्धित्रय जैसा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ पूर्णत: उपलब्ध नहीं है। यह ग्रंथ रामानुज के लिए अपने सिद्धांत की स्थापना के लिए आधारभूत मालूम पडता है।

इस के बाद यामुनाचार्य के दर्शन के जीव, ईश्वर, मोक्ष आदि महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का विवेचन आता है। इस में प्रपत्ति के रूप में स्थापित भक्ति का विधान उन की मुक्ति की कल्पना को स्पष्ट करता है। इस विचार का परीक्षण विवेचक दृष्टि से किया है। संदर्भग्रंथों की सूचि इस ग्रंथ की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। ग्रंथ के अन्य परिशिष्ट तथा सूचियाँ संशोधन की दृष्टि से उपयुक्त हैं। डॉ. नरसिंहाचार्य ने बहुत परिश्रमों से इस ग्रंथ का निर्माण किया है। पादटिप्पणियों से इस बात को अधिक पुष्टि मिलती है। आशा है दर्शन के पाठक इस पुस्तक से विशेष लाभान्वित होंगे।

-डॉ. कांचन मांडे

सर परशुरामभाऊ महाविद्यालय
पुणे - ४११०३०

-२-

डॉ.उर्मिला चतुर्वेदी, भारतीय दार्शनिक चिन्तन के विभिन्न आयाम, कला प्रकाशन, वाराणसी २२१००४, १९९६, पृष्ठ ज + ३ + ११९ मूल्य रु.२००/-

डॉ. उर्मिला चतुर्वेदी की 'भारतीय दार्शनिक चिंतन के विभिन्न आयाम' यह किताब उनके खुदके विभिन्न पत्रिकाओं में अधिकांश रूपसे प्रकाशित हुए लेखोंका संग्रह है, उन में से कुछ लेख गोष्ठियों में पढे गये हैं। इन में वैदिक काल से लेकर बीसवीं सदी के तत्त्व और तत्त्वज्ञों का विचार किया हैं इसलिए पुस्तक महत्त्वपूर्ण है। फिर भी बहुतसी मर्यादाएँ भी सामने आती हैं।

पहले लेख का शीर्षक है 'अज्ञान मीमांसा'। इसमें बौद्ध, सांख्य और अद्वैत वेदान्तकी दृष्टि से अज्ञान शब्द और तत्त्व का विचार करने का प्रयास किया गया है। लेख के अंतिम परिच्छेद में पद्मपादाचार्य के मतानुसार अविद्या, माया, क्षर, आकाश आदि अविद्याकी संज्ञाएँ बतायी गयी हैं। यहाँ अविद्या, माया, क्षर, आदि के साथ आकाश कैसे जुड गया इसके बारे में चतुर्वेदीजी ने कुछ विश्लेषण नहीं दिया है। उन्हें यह मत मान्य है या नहीं इस के बारे में भी कुछ लिखा नहीं है। यदि इस तरह का कुछ विचार प्रस्तुत किया होता तो अभ्यासकों की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण लेख हो सकता था।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दूसरा लेख है ज्ञान-विवेचन जिसकी शुरुआत है 'ज्ञान की समस्या भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याओं में से एक है', (पृ.१० पंक्ति-१) भारतीय दर्शन कभी किसी विषय की ओर समस्या की दृष्टि से नहीं देखता बल्कि उसे एक तत्त्व समझता है। लेकिन पाश्चात्य दार्शनिक हमेशा समस्याओं के रूप में देखते हैं। इसलिए यह प्रारंभ खास करके पाश्चात्य विचार के प्रभाव से किया हुआ लगता है। ज्ञान के बारे में सोचते समय जैन, बौद्ध, चार्वाक ये अवैदिक दर्शन और न्याय-वैशेषिक, भाट्ट और कुमारिल, मीमांसक, सांख्य योग, अद्वैत वेदान्त और विशिष्टाद्वैत ये वैदिक दर्शन इन सब के अनुसार ज्ञान की कल्पना क्या है यह प्रदर्शित किया है। इस में सांख्य-योग का मत अच्छी तरह से प्रस्तुत किया गया है। अद्वैत वेदान्त के बारे में डॉ. चतुर्वेदी ने कहा है कि वास्तव में अद्वैत वेदान्त में व्यावहारिक तथा पारमार्थिक सत्ता में कोई तालमेल नहीं बैठ पाया है। लेकिन इन संज्ञाओं में तालमेल का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। क्योंकि व्यावहारिक सत्ता कालिक है, तो पारमार्थिक कालातील है। इसलिए चतुर्वेदीजी को सचमुच क्या अभिप्रेत है यह समझ में नहीं आता। उनका यह विधान संदिग्ध ही रह जाता है।

'भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद' इस लेख में भी लेखिका ने न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त इन शास्त्रोंकी दृष्टि से प्रामाण्यवाद का विवेचन किया है। साथ साथ जैन और बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रामाण्यवाद की संकल्पना क्या है यह भी स्पष्ट किया है। इस संपूर्ण किताब में यह सबसे बडा लेख है। इस लेख में प्रामाण्यवाद का ऐतिहासिक दृष्टिसे विधान किया गया है। फिर भी प्रामाण्यवाद के विषय में लेखिका का खुद का अभिप्राय क्या है यह आकांक्षा रहती है।

'औपनिषद् परंपरा में योग' और 'मैत्रायणी उपनिषद् में योग' ये दोनों योगाधिष्ठित विषयपर लिखे हुए लेख हैं। उनमें कई पारिभाषिक शब्दों की सूची दी गयी है। लेकिन उनका कुछ स्पष्टीकरण या आधुनिक काल में योग का स्थान, उसका परंपरा से संबंध इस के बारे में कुछ प्रकाश नहीं डाला गया है। २१ योगोपनिषदों के नाम दिये हैं। असल में इन उपनिषदों को योग उपनिषद् में उन्नीसवीं शती में अडयार लायब्रीने समाविष्ट किया है।

'विशिष्टाद्वैत दर्शन में आराधना का स्वरूप' इस लेख में भक्ति के साथ उपचारों का विवेचन किया है। आराधना के संदर्भ में अधिवांमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय तथा योग इन उपचारोंका स्पष्टीकरण किया है। (पृ. १०१- परि ३, पृ. १०२- परि.१)। पृ. १०३ परि ४ में दूसरी पंक्ती है 'प्रपत्ति ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण है'[१] यहाँ टिप्पणी क्र.१ लिखा है। पृष्ठ १०६ पर जो संस्कृत टिप्पणी दी है उसका

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थ बिलकुल अलग है । तो वह टिप्पणी यहाँ देने का तात्पर्य ध्यानमें नहीं आता। बीसवीं शती के महान् तत्त्वज्ञ श्री अरविंद पर 'अखण्ड अद्वैतवादी महर्षि श्री अरविन्द' और 'श्री अरविंद का अतिमानव' ये दो लेख हैं । दोनों में अधिकांश श्रीअरविंद के ही 'लाइफ डिवाइन' का अनुवादसा लगता है । दोनो में एक भी टिप्पणी नहीं है । दूसरे लेख में चार पंक्तियाँ उद्धृत की हैं और नीचे 'रश्मिरथी' (पृ. ११६) ऐसा लिखा है । परन्तु यह कौनसा ग्रंथ है, क्या है इसकी बारे में कुछ नहीं है ।

अगला लेख है 'राधाकृष्णन् की दृष्टि में धर्म की अवधारणा' । हिंदी के अनुसार 'दृष्टि में' और 'धर्म' इस के बीच कोलन (:) की आवश्यकता नहीं है । फिर से यह पाश्चात्य दृष्टि का लेखन हुआ । शीर्षक के अनुरोध से सिर्फ राधाकृष्णन् की राय उपस्थित की है ।

देवात्म दर्शन में आत्मा का स्वरूप' यह शीर्षक है अगले लेख का । देवात्म दर्शन शांकर या रामानुज दर्शनों जैसा प्रसिद्ध दर्शन नहीं है । फिर भी कुछ पूर्वपीठिका न देते हुए विषय की रचना की गयी है । जिस से कई सवाल अनुत्तरित रह जाते हैं। जैसे कि पृ. १२९ परि ३ में लिखा है कि मनुष्य की आत्मा अमर नहीं है । तो क्या ये चार्वाक के जडवाद के समीप जाता है या उस का कुछ और स्पष्टिकरण है? इत्यादि ।

'दु:ख का दार्शनिक विवेचन' यह लेख महत्त्वपूर्ण लगता है । उस में जैन-बौद्ध इन नास्तिक दर्शनों के सहित वेदान्त के केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत इन विभिन्न संप्रदायों के विचार प्रस्तुत किये हैं । दु:ख के विवेचन के साथ डॉ. चतुर्वेदी ने दु:खमुक्ति के उपाय भी बताए हैं जो महत्त्वपूर्ण हैं ।

'समाधिकरण : परम्परा और औचित्य' यह और एक महत्त्वपूर्ण विषय जो आज-कल 'इच्छामरण' और दयामरण के नामसे जाना जाता है । इसके संदर्भ स्पष्टीकरण करने का अच्छा प्रयास किया है ।

'स्थितप्रज्ञ की अवधारणा और विनोबा भावे' इस लेख में भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में आयी स्थितप्रज्ञ की संकल्पना विनोबाजी ने कैसे स्पष्ट की है इसका उचित विवेचन किया है ।

'ईश्वर और मानव' इस लेख में ये दो तत्त्व एक-दूसरे से कैसे संबंधित हैं इसका विवेचन किया है । सब लेखन रूखासा लगता है । ये दो सिर्फ तत्त्व हैं, मूल में एक-दूसरे में कितने घुल-मिल गये हैं यह ठीक तरह से प्रस्तुत नहीं हुआ है । लेख की समाप्ति अचानक हुई है, ऐसा महसूस होता है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'भारतीय धर्म और दर्शन में ईश्वर-विचार' लेख में ईश्वर के बजाय धर्म, धर्म की संकल्पना, दर्शन, आस्तिक दर्शन नास्तिक दर्शन इसके बारे में ज्यादा सोच विचार पाया जाता है ।

'प्राचीन भारतीय मूल्य परंपरा : एक सर्वेक्षण' यह सचमुच उपसंहारात्मक लेख है । इस में धर्म के विषय में कुछ विचार मिलते हैं । शीर्षक और प्रस्तुत विचारों में से 'मूल्य परंपरा' याने निश्चित रूप से क्या अभिप्रेत है यह समझ में नहीं आता ।

लेखों के अंतरंग के बारे में यह सब कहने के बाद बहिरंग के बारे में कुछ कहा जाए तो अप्रस्तुत नहीं होगा । छपाई की दृष्टि से बहुत दुर्लक्ष हुआ है । पृ. ३ पर अंतिम पंक्ति में अविद्या के स्पष्टीकरण में 'सुख' शब्द के बजाय 'दु:ख' शब्द छपा है जो बिलकुल विपरित अर्थ देता है । और संस्कृत टिप्पणी में 'सुख' शब्द ही है । संस्कृत उद्धरणों में भी बहुत से उद्धरण दूषित हैं जैसे कि पृ. २ टिप्पणी ३ द्वा सुपर्णा .... स्वाद्वत्यनश्मन्नन्यो.... वास्तविक शब्द है स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो । संस्कृत टिप्पणियों के संदर्भ में कई जगह संस्कृत उद्धरण न देते हुए सिर्फ ग्रंथ का नाम और अन्य संदर्भ दिया है । (पृ. १ टिप्पणी - ३, पृ. २ टिप्पणी - १, पृ. ३ टिप्पणी इत्यादि) । अन्यत्र संस्कृत उद्धरण के साथ ग्रांथिक संदर्भ (ग्रंथ का नाम, अन्य संदर्भ क्रमांक इत्यादि) दिया है (पृ. ७. टिप्पणी १, पृ. ८ टिप्पणी १ इत्यादि) । ऐसा करने में लेखिका का क्या खयाल है कुछ समझ में नहीं आता । भिन्न भिन्न विषयों पर लिखे गये इन लेखों में जो संस्कृत टिप्पणियाँ दी गयी हैं उन मूल ग्रंथों की सूची नहीं दी है । कहीं पंक्तियाँ पुनरुक्त हुईं हैं जैसे कि पृ. २६ पंक्तियाँ १३-१४ तक, पृ. १५१ परि. ४ पंक्तियाँ ४-५ ।

'ईश्वर और मानव' और 'भारतीय धर्म और दर्शन में ईश्वर-विचार' ये दो लेख ही उचित प्रस्तावनासे शुरू होते हैं । बाकी सब लेखों को कुछ भी प्रस्तावना न दे कर लेखिका एकदम विषयपर झपक पडती है ।

भारतीय दर्शन की परंपरा विश्व में सबसे प्राचीन है । इस परंपरा में विभिन्न मत,तत्त्व धारण करनेवाले दर्शन एकसाथ ही विकसित हुए । इन सभी दार्शनिक परंपराओंने एक विशेष शैली को अपनाया - पहले पूर्वपक्ष-परमतों का सुचारु रूप से प्रतिपादन कर उसका खंडन करना और फिर उत्तर पक्ष - सिद्धान्त पक्ष-स्वमत का प्रतिपादन कर के उसका मंडन करना । इस किताब में विषय वैविध्यता तथा उन विषयों पर विभिन्न दर्शन तथा दार्शनिकों मत प्रतिपादन की दृष्टिसे भारतीय दार्शनिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परंपराके आयाम हमारे सामने आते हैं । लेकिन खंडन-मंडनात्मक शैली का विशेषत' परमत खंडन और स्वमत प्रतिपादन इसका दर्शन इस किताब में नहीं होता। प्राय: सभी लेख वर्णनात्मक हैं । यह सब होते हुए भी इन लेखों के माध्यम से इतने भिन्न विषयोंपर की सब जानकारी एक जगह मिलती है इसलिए लेखिका निश्चिता ही अभिनंदन की पात्र है ।

हेमा मोरे

सर परशुरामभाऊ महाविद्यालय,
पुणे - ४११०३०

-३-

मेहता, मोहनलाल (डॉ.), जैन धर्म-दर्शन : एक समीक्षात्मक परिचय, सेठ-मूथा छगनमल मेमोरियल फौंडेशन, बेंगलोर, १९९२, पृ.१४ + ६४२, मूल्य रु.२००/-

जैन-दर्शन भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण एवं प्रबल धारा रही है । इस की प्राचीनता वेदकालीन या वेदपूर्व भी स्थापित करने की कोशिश कुछ संशोधकोंने की है । आज भी इस दर्शन एवं जीवनप्रणाली के प्रति समर्पित जीवन व्यतीत करनेवाले बहुत सारे लोग हमारे देश में हैं । इस दर्शनपरंपरा की बहुत बडी देन है । इस विषय पर काफी ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं । उन्हीं में एक है प्रस्तुत ग्रंथ जो अपनी एक विशेषता बनाए हुए है ।

प्रस्तुत ग्रंथ लेखक के चालीस साल पूर्व प्रकाशित ग्रंथ की संशोधित एवं संवर्धित तृतीय आवृत्ति कही जा सकती है । ऐसी विशाल पृष्ठसंख्या में प्रकाशित इस ग्रंथ के सात अध्याय हैं । इसमें जैन-परंपरा के इतिहास से लेकर उस का साहित्य, तत्त्वविचार ज्ञानमीमांसा, न्यायशास्त्र, कर्मसिद्धान्त एवं आचारशास्त्र शास्त्र सभी विषय अत्यंत सरल स्पष्टरूप से विवेचित हैं । इसी के साथ ग्रंथ-सूची भी है जो अभ्यासकों के लिए उपयोगी है । अन्य परिशिष्टों में भी संबंधित विषयों का उपयुक्त विवरण दिया गया है ।

जैन, धर्म, संस्कृति एव दर्शन में अनेक विषय हैं । करीबन उन सभी विषयों को प्रस्तुत ग्रंथ में स्पष्ट किया है । लेखक की शैली में न दुर्बोधता है न अकारण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्दव्यय है। जो बात जितनी कहने से स्पष्ट हो उस से अधिक लिखा नहीं है। इस ग्रंथ का मूल प्रयोजन जैन-परंपरा में निहित तत्त्वों का परिचय देना यह होने के कारण इस में विशेष युक्तिवाद, समर्थन आदि की आवश्यकता नहीं हैं। अत: विषयविन्यास एवं उस का आवश्यक स्पष्टीकरण देने तक ही विवरण मर्यादित है। इस तरह ग्रंथ के निर्माण के लिए लेखक अभिनंदनपात्र हैं और इस ग्रंथ से पाठकगण भी लाभान्वित होंगें यह बात नि:संशय है।

दर्शन विभाग
पुणे विद्यापीठ, पुणे ४११००७

सुभाषचन्द्र भेलके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिंदी) प्रकाशन

आत्मस्वीकृति – *ले. प्रो. सुरेंद्र बारलिंगे*
अनु. प्रा. राजमल बोरा
सं. डॉ. सुभाषचंद्र भेलके

पृ. ८८ मूल्य रु. ६०।-

मनुष्य और समाज के गौरवशाली अस्तित्व की प्रस्थापना में दर्शन किस तरह अपनी भूमिका अदा कर सकता है ? दार्शनिक का भावविश्व एवं विचार-विश्व किस तरह का होता है ? दार्शनिक अपना जीवन किस तरह व्यतीत करता है ? इन प्रश्नों की खोज का समाधान दिलानेवाली यह पुस्तक अवश्य ही पाठकगण के लिए नयी दृष्टि प्रदान करेगी ।

★

नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (प्रथम खंड)

ले. डॉ. बलिराम शुक्ल

पृ. २१० मूल्य : रु. १६०।-

नव्यन्याय के अध्ययन के लिए पारंपरिक शिक्षा की आवश्यकता है । लेकिन प्राथमिक स्तर पर तथा तौलनिक अभ्यासकों के लिए नव्यन्याय के पदार्थों का मौलिक परिचय होना जरूरी है । इस दृष्टि से यह पुस्तक पाठकों की सहायता करेगी ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

- पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें। लेख प्राय: ३००० शब्दों से अधिक न हो । लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है । इस में विशुद्ध चिंतपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी।
- यह जरूरी नहीं हैं कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।
- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं । यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं ।
- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व अधिकार पत्रिका का होगा ।
- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुन: प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचंद्र भेलके ने यह त्रैमासिक पौर्णिमा एन्टरप्राईझेस, धनकवडी, पुणे ४११ ०४३ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २१ अंक १ अंक दिसम्बर १९९९

		संपादकीय	१
नरेन्द्र सिंह महला	:	गणितीय ज्ञान की अनुभवनिरपेक्षता	३
सोमनाथ नेने	:	भाट्टमीमांसा में ज्ञान की अवधारणा	११
		शांकरदर्शन में मानव व्यक्ति का महत्त्व	२३
बच्छराज दुगड	:	आचार्य अकलंक की प्रमाण-मीमांसा व सत्यता की कसौटी	३५
नरेन्द्र नाथ गुप्ता	:	गीता और मानववाद	४५
विनोद शाही	:	इतिहास की भारतीय अवधारणा पर पुनर्विचार	५३
रमेश चन्द्र सिन्हा	:	भारतीय संस्कृति तथा तकनीकी समाज : एक मूल्यपरक विश्लेषण	६५
डॉ. विजय कुमार सिन्हा, डॉ. अरुण कुमार प्रसाद		ईश्वरीय मृत्यु का ईशविज्ञान और ईश्वरीय अस्तित्व संबंधी सत्तामूलक तर्क	७७
डॉ. आदित्य प्रचण्डिया	:	साहित्य की पठनीयता : दशा और दिशा	९३
डॉ. कांचन मांडे, हेमा मोरे, सुभाषचन्द्र भेलके	:	ग्रंथ-समीक्षा	१०१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.